॥ श्रीहरिः ॥ 571

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

विशिष्ट संस्करण

गीताप्रेस, गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

विचित्र तेज छा जाता है। सिरके चारों ओरसे रश्मियाँ-सी निकलने लगती हैं। वाणी परम ओज-समन्वित हो जाती है। एक विचित्र-सी हँसी अधरोंपर नाच उठती है तथा वे अविराम बोलने लगते हैं—

चारि बेद लै गयौ संखासुर, जल में रह्यौ लुकाऊ।
मीन रूप धरि कै जब मारयौ, तबहिं रहे कहँ हाऊ?
मथि समुद्र सुर-असुरनि कैं हित, मंदर जलधि धसाऊ।
कमठ-रूप धरि धरयौ पीठि पर, तहाँ न देखे हाऊ।
जब हिरनाच्छ जुद्ध अभिलाष्यौ, मन में अति गरबाऊ।
धरि बाराह-रूप सो मारयौ, लै छिति दंत-अगाऊ॥
बिकट रूप अवतार धरयौ जब, सो प्रहलाद बचाऊ।
हिरनकसिप-बपु नखनि बिदारयौ, तहाँ न देखे हाऊ॥
बामन-रूप धरयौ बलि छलि कै, तीनि परग बसुधाऊ।
स्रम-जल ब्रह्म-कमंडल राख्यौ, दरसि चरन परसाऊ॥
मारयौ मुनि बिनहीं अपराधहि, कामधेनु लै आऊ।
इकइस बार निछत्र करि छिति, तहाँ न देखे हाऊ॥
राम-रूप रावन जब मारयौ, दस-सिर बीस-भुजाऊ।
लंक जराइ छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ॥
भक्त हेत अवतार धरे, सब असुरनि मारि बहाऊ।
सूरदास प्रभु की यह लीला, निगम नेति नित गाऊ॥

श्रीकृष्णचन्द्र! भूल गये अपने उस लक्षयोजन-परिमित स्वर्णिम मत्स्य-शरीरको? तुम्हारे शरीरपर उस समय एक बृहत् शृङ्ग था, उसमें सत्यव्रतकी नौका बँधी थी; प्रलयका सागर हिलोरें ले रहा था, सींगमें बँधी वह तरणी तरङ्गोंपर संतरण कर रही थी। सप्तर्षि, समस्त प्राणियोंके सूक्ष्मशरीर एवं समस्त बीजोंको साथ लिये सत्यव्रत उसपर बैठे तुम्हारी स्तुति कर रहे थे; तुम प्रलय-समुद्रमें विहार कर रहे थे। ब्रह्मरात्रिका अवसान होनेतक यह विहार चलता रहा। जब ब्रह्माकी निद्रा टूटी तब तुम शङ्खासुर हयग्रीव दैत्यकी ओर दौड़े। इसी दैत्यने, जिस समय ब्रह्मा सोये थे, उनके मुखसे निर्गत चारों वेदोंका—श्रुतियोंका अपहरण कर लिया था, हरण करके जलमें—पातालमें छिपा बैठा था; मत्स्यरूप तुमने उस दैत्यको मार डाला—

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
(श्रीमद्भा० ८। २४। ६१)

वहाँ उस दैत्यके आवासमें अथवा प्रलय-समुद्रके किसी भागमें तो 'हाऊ' नहीं मिला। बताओ, कहीं था क्या? तथा उस दिनकी बात याद करो—समुद्रमन्थन होने जा रहा था, किंतु वह सुवर्णमय मन्दर अपने भारसे समुद्रमें निमग्न होने लगा। बलवान् देवोंने, असुरोंने सारी शक्ति लगा ली; पर वे मन्दराचल-मन्थनदण्डको थाम न सके, मन्दर डूब चला। देवोंका मुख म्लान हो गया था। पर तुम्हें दया आ गयी; तुम तत्क्षण एक विशाल विचित्र कच्छपका रूप धारणकर जलराशिमें प्रवेश कर गये, डूबते हुए मन्दरको पीठपर रखकर ऊपर उठा दिया।

कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥
(श्रीमद्भा० ८। ७। ८)

तब कहीं समुद्रमन्थन हो सका। पर 'हाऊ' तो उस समुद्रमें भी कहीं न दीखा, तुम्हारे उस लक्षयोजन विस्तीर्ण पीठके समीप कभी 'हाऊ' मैंने नहीं देखा। इससे भी पूर्वकी घटना स्मरण करो—रसातलका वह देश, तुम्हारे विकट वाराहरूपकी दंष्ट्राग्रपर अवस्थित अवनी, तुम पृथ्वीदेवीको लिये आ रहे थे; बलगर्वसे मत्त हिरण्याक्षने तुम्हें ललकारा—'रे अज्ञ! वनपशु! यह धरा तो रसातलकी सम्पत्ति बन चुकी है, इसे छोड़ दे। रे सूकराकृति सुराधम! मैं जानता हूँ, तेरा बल योगमाया है, इसके सिवा तुझमें पौरुष कहाँ? किंतु अब तेरा कल्याण नहीं, तेरे जीवनकी इतिश्री अभी इसी क्षण किये देता हूँ; फिर देव-ऋषि तो छिन्नमूल वृक्षकी भाँति स्वयं ही नष्ट हो जायँगे।' उस समय श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें याद है, पहले तो तुमने दैत्यसे डरी हुई धरादेवीको जलके ऊपर स्थापित किया, उनमें अपनी आधारशक्ति संचरित कर दी; यह करके हिरण्याक्षसे व्यङ्ग करने लगे, कुछ देर उसकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये उससे युद्ध करने लगे। अपनी सारी

आसुरी मायाका उसने प्रयोग कर लिया, पर तुम अक्षत रहे; अन्तमें उसे एक चपत तुमने लगा दी, बड़ी उपेक्षासे। किंतु वह उपेक्षाकी चपत दैत्यके लिये तो मृत्यु थी; उसके नेत्र निकल आये, शरीर घूमने लगा, हाथ-पैर-केश छिन्न-भिन्न हो गये, झंझावातसे उखड़े हुए विशाल वृक्षकी भाँति हिरण्याक्ष पृथ्वीपर निष्प्राण हो गिर पड़ा—

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया
यरिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपत-
द्यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता॥

(श्रीमद्भा० २। १९। २६)

—उस समय कहींपर भी रसातलमें तुमने 'हाऊ' देखा था क्या? अच्छा, इसे भी छोड़ो। क्या अपने उस विकराल नृसिंह-शरीरकी तुम्हें विस्मृति हो गयी है? तुम्हारा वह विशाल शरीर स्वर्गको छू रहा था, ग्रीवा कुछ छोटी पर अत्यन्त पुष्ट थी, वक्षःस्थल अत्यन्त प्रशस्त एवं कटिदेश क्षीण था, चन्द्रकिरण-जैसी उज्ज्वल रोमावलि सारे शरीरपर चमचम कर रही थी, शत-शत भुजाएँ चारों ओर फैली हुई थीं। उनमें बड़े-बड़े नख थे, जो आयुधका काम दे रहे थे। तुम्हारी वे तप्तस्वर्ण-जैसी पीली-पीली आँखें, खड्गकी भाँति लपलप करती, क्षुरधारा-जैसी तीक्ष्ण तुम्हारी जिह्वा, ऊपरकी ओर उठे हुए कर्णयुगल, पर्वतकन्दरा-जैसी तुम्हारी नासिका एवं मुख—ये कितने भयंकर थे। इस भयानक रूपसे ही तुम उस स्तम्भके अन्तरालसे सभामें निकले थे, भृत्यकी बात सत्य करने आये थे। प्रह्लादने कहा था, 'मेरे प्रभु सर्वत्र हैं, इस खंभेमें भी हैं।' इस वचनसे क्रुद्ध होकर अविश्वासी हिरण्यकशिपु उसका प्राण हरण करने जा रहा था, इसीलिये प्रह्लादके वचनको नित्य-सत्य सिद्ध करने एवं हिरण्यकशिपुका विनाश कर प्रह्लादको बचाने आये थे। हिरण्यकशिपु तुमपर टूट पड़ा, तुम भी उससे खिलवाड़ करने लगे; पर देवता तो अतिशय भयभीत हो रहे थे। उन्हें निर्भय करते हुए तुमने अट्टहास किया; फिर, आयास बिना ही, जैसे सर्प चूहेको पकड़ लेता है, वैसे तुमने हिरण्यकशिपुकी उस देहको दबोच डाला, जिस देहपर वज्रके प्रहारसे भी क्षत (घाव) न होते थे। अपनी उस वज्रप्रतिम देहको तुम्हारे हाथसे मुक्त करनेके लिये हिरण्यकशिपु चारों ओर छटपट कर रहा था, पर वह छूटता जो न था। सभामण्डपके द्वारपर उसे उठाकर तुम ले गये, जाँघोंपर गिरा दिया; फिर जैसे गरुड़ महाविषधर सर्पको क्षणमें चीर डाले, वैसे तुमने खेल-खेलमें ही उसका शरीर फाड़ डाला—

विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूरु आपात्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। २९)

—बताओ, श्रीकृष्ण! उन अपने नृसिंहविग्रहकी विकट आँखोंसे दैत्येन्द्रपुरीमें तुमने कहीं भी 'हाऊ' देखा क्या? अरे, हिरण्यकशिपुको भी जाने दो। प्रह्लादके प्रपौत्र बलिकी गाथा स्मरण करो—वामनरूप हुए तुम भृगुकच्छकी* ओर बढ़ रहे थे। तुमपर बलिके ऋत्विजोंकी दृष्टि पड़ी, उन्हें प्रतीत हुआ—मानो भुवनभास्कर उदय हो रहे हों। एकने दूरसे देखकर कहा—अग्नि हैं; दूसरेने कहा—नहीं, सनत्कुमार हैं। छत्र, दण्ड एवं जलपूरित कमण्डलु लिये तुम यज्ञमण्डपमें जा पहुँचे; विरोचनपुत्रसे तुमने तीन पग पृथ्वीकी याचना की। आचार्य शुक्र तुम्हें जान गये; अपने शिष्य बलिको शक्तिभर रोका कि दानका संकल्प मत करना। किंतु उस सत्यप्रतिज्ञ वीर दैत्येन्द्र बलिने संकल्प कर ही दिया। बस, फिर तो तुम्हारा वह बौना शरीर बढ़ा—इतना विशाल बन गया कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ऋषि—सब उसीमें समा गये। बलिने स्पष्ट देखा—तुम्हारे चरणतलमें तो रसातल अवस्थित है, एवं मस्तकमें स्वर्ग; सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत्को ही

* नर्मदाके उत्तर तटपर स्थित एक स्थान। यहीं बलिके ऋत्विज् यज्ञानुष्ठान कर रहे थे।

उन्होंने तुममें संस्थित देखा। इसके पश्चात् एक पगसे ही बलिपरिपालित सारी पृथ्वी तुमने नाप ली, दूसरेसे स्वर्ग नाप लिया, तीसरेके लिये किञ्चित्मात्र भी स्थान नहीं था; क्योंकि तुम्हारा दूसरा पग ही ऊपर उठता हुआ महर्लोक, जनलोक, तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें जा पहुँचा था। तुम्हारी नखचन्द्रछटाके सामने सत्यलोककी आभा मलिन हो गयी थी; पद्मयोनिने आनन्दमें भरकर पाद्य अर्पण करते हुए स्वेदबिन्दुविभूषित उन चरणोंको प्रक्षालित किया। उस प्रक्षालित जलको धारणकर ब्रह्मकमण्डलुका शेष जल भी पवित्र, पवित्रतम हो गया; वह जल ही सुरधुनीकी धारा बन गयी। आकाशपथसे गिरकर वह त्रिलोकको पवित्र बनानेवाली हुई, तुम्हारी विशद कीर्तिकी मूर्ति वह धारा आजतक तीनों लोक पावन कर रही है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० ८। २१। ४)

—अस्तु, बताओ श्रीकृष्णचन्द्र! दो पगसे ब्रह्माण्ड नापते हुए, तीसरा पग बलिके सिरपर रखते समय कहीं भी तुम्हें 'हाऊ' देखनेको मिला क्या? ओह! ऐसे बने हो, मानो क्षत्रियकुलके अगणित छिन्न नरमुण्डोंकी तुम्हें विस्मृति हो गयी हो, उस भीषण रक्तधाराको जैसे भूल गये हो। तुम परशुरामरूपमें अवतीर्ण हुए, महर्षि जमदग्निके पुत्र बने। हैहयाधिपति सहस्रार्जुनने तुम्हारे पिताकी कामधेनु हर ली थी; तुमने देखते-देखते अमितबलशाली सहस्रार्जुनको मार डाला, कामधेनु लौटा ली; किंतु सहस्रार्जुनके पुत्रोंने इसका अमानुषिक बदला लिया; तुम उस समय आश्रममें नहीं थे, वे अर्जुनपुत्र आये। तुम्हारी जननी रेणुकाने रो-रोकर उन्हें रोका भी; पर उन दुष्टोंने अपराधशून्य जमदग्निका सिर काट ही डाला, काटकर भाग गये। फिर तो तुम्हारे परशुसे माहिष्मती नगरी रक्तप्लावित हो उठी। माहिष्मतीके चौकपर दस सहस्र अर्जुनपुत्रोंके कटे सिरोंका पर्वत बन गया था। समस्त क्षत्रियकुल ही उस समय अत्याचारी बन गया था; इसलिये इसी निमित्तसे तुमने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया, समन्तपञ्चक-तीर्थमें—कुरुक्षेत्रमें तुमने शोणितसे पूर्ण ह्रद (तालाब) बना दिये थे—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप॥

(श्रीमद्भा० ९। १६। १९)

—भला, बताओ, उस रक्तपातकी यात्रामें कहीं भी तुम्हें 'हाऊ' दीख पड़ा क्या? अच्छा, इस क्षत्रियकुल-नाशन रूपको भूल जाओ। क्षत्रियकुलभूषण रघुकुलमणि नयनाभिराम, जलधरश्याम रामरूपको तो स्मरण करो; व्रजेन्द्रपुत्र! कौशलेन्द्रपुत्रकी लीला याद करो। श्रीअवधका वह आँगन, लक्ष्मणसहित विश्वामित्रका अनुगमन, मख-रक्षण, श्रीजनकनन्दिनी सीताके स्वयंवरमें धनुषभञ्जन, अनन्तगुणशालिनी वैदेहीका वरण, अवधपुर लौटते समय परशुरामका गर्वभञ्जन, पितु-आज्ञासे वनगमन, सीताहरण, समुद्रमें सेतुबन्धन—इन सबकी क्या तुम्हें विस्मृति हो गयी है? क्या दशमुख रावणके साथ युद्धकी घटना भी स्मरण नहीं? ओह! तुम्हारे बाणोंसे जर्जर हुई लङ्कानगरीके रणाङ्गणमें निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, प्रहस्त, अतिकाय, विकम्पन, मेघनाद, कुम्भकर्णके शरीर निष्प्राण पड़े थे। तब दशमुख आया था। तुमने अपने धनुषपर संधान किये हुए बाणको उसपर छोड़ दिया; इस बाणने उसके वज्रहृदयको भी विदीर्ण कर दिया; दसों मुखोंसे रक्तकी धारा बह चली। क्षीण पुण्य हुए प्राणी जैसे स्वर्गसे गिर पड़ते हैं, वैसे ही वह विमानसे नीचे गिर पड़ा; पुरजन-परिजन हाहाकार कर उठे—

एवं क्षिपन् धनुषि संधितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः॥

(श्रीमद्भा० ९। १०। २३)

—बोलो श्रीकृष्णचन्द्र! श्रीरामचन्द्रके रूपमें तो अवधसे लङ्कापर्यन्त घूमे हो, उस पथमें कहीं भी 'हाऊ' तो नहीं दीखा?

—इस प्रकार बलराम आवेशमें बहुत कुछ बोल गये। जननी यशोदा किञ्चित् आश्चर्य करती हुई-सी सुन रही हैं। उन्हें इतना ही प्रतीत हो रहा है कि बलराम उमंगमें भरकर उनके इष्टदेव नारायणकी लीला गा रहे हैं। जननी सोचती हैं—समय-समयपर, नारायण-उत्सवके समय नटोंद्वारा अभिनीत लीलाएँ इसने देखी हैं, सूत-मागधोंके गान इसने सुने हैं, तीक्ष्णबुद्धि बालकको ये लीलाएँ स्मरण हो गयी हैं। वे हँसकर आँचलसे बलरामका मुख पोंछकर कहती हैं—'मेरे लाल बलराम! तू तो बड़ी-बड़ी बात सीख गया!' जननीका हँसना था कि बलरामके मुखका वह विचित्र तेज, वाणीका वह ओज, बाल्येतर सभी भाव अन्तर्हित हो गये। पुनः पूर्वकी माधुरी गौरमुखारविन्दपर खेलने लग जाती है। श्रीकृष्णके प्रवाल-जैसे अरुण अधरोंपर भी मन्द मुसकान तो अवश्य है, पर नेत्रकमलोंमें जननीवर्णित 'हाऊ' की स्मृति, तज्जन्य भयके चिह्न भी झलक रहे हैं। हाँ, गोपसखाओंके मुखपर अत्यन्त आश्चर्य छाया हुआ है—बलरामकी बात सुनकर नहीं, आकाशपथमें देववृन्दोंका तुमुल जय-जयकार सुनकर। बालक 'जय हो जय हो' यह ध्वनि सुन रहे हैं, पर सिर उठानेपर कुछ भी देख नहीं पाते!

बायीं ओर श्रीकृष्णचन्द्र, दाहिनी ओर बलराम एवं बीचमें जननी हैं; जननीकी अँगुली पकड़े दोनों घरकी ओर जा रहे हैं। पता नहीं कैसे, प्रासादसे तमालवनतकका इतना लंबा पथ क्षणभरमें ही समाप्त हो गया और जननी पुत्रोंको लिये द्वारके सामने आ गयीं। फिर भवनमें प्रवेश कर गयीं। अनेकों भोजन-सामग्रियाँ परोस-परोसकर बड़े स्नेहसे सखाओंके साथ पुत्रोंको भोजन करवाया, फिर उनके खेलमें स्वयं सम्मिलित हो गयीं।

आजका दिन गया, संध्या आयी, रजनी आयी, उषा आयी, प्रभात आया। इसी क्रमसे, श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी क्रीडा समाप्त हुई। व्याकुल हुई, वे सो गये, जननीकी तन्द्रा टूटी, श्रीकृष्णचन्द्रको उन्होंने जगाया। जगाकर, मुख धुलाकर, कलेवा कराकर शृङ्गार करके खेलनेकी अनुमति दे दी। स्वयं आँगनमें बैठकर दधिमन्थन करने लगीं। किंतु श्रीकृष्ण आज खेलने नहीं जाते। जननीके पास खड़े होकर तुरंतका मथित माखन माँगने लगते हैं। जननी इस माखनका मूल्य माँगती है। श्रीकृष्णचन्द्र भी मूल्य चुकानेमें संकोच नहीं करते। अमरवृन्दके आनन्दनादसे अन्तरिक्ष भर जाता है। ओह! त्रिभुवननाथ तो आज माखनके लोभसे नाच रहे हैं।

जसुमति दधिमंथन करति, बैठी बर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत नासि दँतियनि छबि छाजै।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन-हरन काज मोहिनि दल साजै॥
जननि कहति माचौ तुम, देहौं नवनीत मोहन,
रुनुक-झुनुक चलत पाइ, नूपुर-धुनि बाजै।
गावत गुन सूरदास, बाढ्यौ जस धुव अकास,
जाचत त्रैलोकनाथ माखन के काजै॥

मणिस्तम्भ-लीला (प्रथम नवनीत-हरण-लीला)

ग्वालिनने प्रत्याशाभरी आँखोंसे व्रजरानीकी ओर देखा। कदाचित् कोई-सा कार्यभार वे मुझे पुनः सौंप दें, कुछ क्षण यहाँ और रुक जानेका मिस हो जाय, श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य निहारकर मैं शीतल होती रहूँ—अन्तस्तलके ये आकुलभाव उसके नेत्रोंकी ओटसे झाँक रहे थे। इधर रन्धनशालाके द्वारपर अवस्थित व्रजरानी भी सोच रही थीं—क्या करूँ? किसकी सहायता लूँ? रोहिणीजी तो समागत ब्राह्मणोंकी सेवा-सत्कारमें लगी हैं, परिचारिकाएँ गोष्ठसे आये हुए दुग्धपूरित कलशोंको यथास्थान रखनेमें अत्यन्त व्यस्त हैं, व्रजेश्वर नारायण-सेवामें संलग्न हैं, शीघ्र ही भोगसामग्रियोंको नारायणमन्दिरमें पहुँचा देनेका आदेश भी आ चुका है, दधि-मन्थनका कार्य अधूरा छोड़कर मैं उठ भी आयी; पर मेरा नीलमणि स्तन्यपानके लिये अञ्चल पकड़े खड़ा है, स्तन्यपानके लिये मचल रहा है। इसे दूध पिलाकर, पुनः वस्त्रपरिवर्तन कर मैं रन्धनशालामें तो चली जाऊँगी; किंतु इस आधे मथे दहीसे माखन तो निकला नहीं। विलम्ब होनेपर तो निकलेगा ही नहीं। फिर पद्मगन्धा कजरीके दूधका सद्योमथित नवनीत आज मैं अपने नीलमणिको कैसे दे पाऊँगी? अच्छा, इस ग्वालिनसे बिलोनेको कह दूँ क्या.....? बस, दो हृदयकी ये चञ्चल धाराएँ अज्ञात चेतनाके धरातलपर जा मिलीं, व्रजरानी उस गोपसुन्दरीकी ओर दृष्टि फेरकर कह ही तो उठीं—

पाहुनी, करि दै तनक मह्यौ।
हौं लागी गृह-काज-रसोई, जसुमति बिनय कह्यौ।
आरि करत मनमोहन मेरौ, अंचल आनि गह्यौ॥

अब तो उसके हर्षका पार नहीं। आनन्दमें निमग्न वह मथानीकी ओर चली। अवश्य ही उसकी दृष्टि मथानीको नहीं देख पा रही है, दृष्टि तो यशोदारानीके अङ्कमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रके रूपसे भरी है। वह कुञ्चित केशकलाप, ललाटका वह केसरबिन्दु, रतनारे चञ्चल नयन, सुढार युग्म कपोल, अरुणिम अधर, कटुलाभूषित कम्बुकण्ठ, व्याघ्रनखराजित वक्षःस्थल, सुन्दर नाभिकमल, किङ्किणीभूषित कटिदेश, सुकोमल छोटे बाहुयुगल, हस्तकमल, सुन्दर मनोहर जानु, गुल्फ, चरणतल—गोपसुन्दरीके नेत्रमें तो ये भरे हैं; मथानी समा सके, इतना अवकाश नेत्रोंमें कहाँ। इसीलिये अनुमानसे मथानीके समीप वह जा तो पहुँची, पर देख न पा सकी कि कहाँ क्या है। आते ही दधिभाण्डसे चरणोंका वेगपूर्ण स्पर्श हुआ, वह दधिपात्र उलटा हो गया, दहीकी धारा बह चली। गोपसुन्दरीने हाथसे टटोलकर केवल यह समझा कि मटका तिरछा हो गया है, अपनी जानमें सीधा करके वह बिलोने चली। प्रेमविवश हुई ग्वालिन यह नहीं जानती कि वह रीते पात्रमें ही मन्थनदण्ड चला रही है, दही तो बाहर बह गया है—

ब्याकुल मथति मथनिया रीती, दधि भुव डरकि रह्यौ।

यशोदारानीने भी तब जाना कि जब श्रीकृष्णचन्द्र स्तन्यपानसे विरत होकर हँसते हुए-से उस ग्वालिनकी ओर देखने लगे, जननीको उस ओर देखनेके लिये इङ्गित करने लगे। अन्यथा जननी तो बिलोनेका आदेश देकर अपने नीलमणिमें ऐसी उलझ गयी थीं कि अन्य सब कुछ विस्मृत हो गया था। वे तो अपने नीलमणिको स्तन्यदान करनेमें तन्मय हो रही थीं। श्रीकृष्णचन्द्रने ही उन्हें जगाया तथा जागकर जननीने देखा—हैं! माखन तो बहता जा रहा है! जननीने पुकारकर कहा—'री सखी! नेक अपनेको सम्हाल!' अब कहीं जाकर व्रजसुन्दरीको मथानीकी, दधिपात्रकी वास्तविक अवस्थाका भान हुआ। फिर तो संकोच-लज्जामें वह बह चली। व्रजरानीको भी संकोच हुआ कि इसकी सुखसमाधि मैंने तोड़ दी—

माखन जात जानि भँदरानी, सखी! सम्हारि, कह्यौ।
सूर स्याम-मुख निरखि मगन भइ, दुहुन सँकोच सह्यौ॥

इसके दूसरे दिनकी बात है। ग्वालिन पुनः नन्दभवनमें आयी। आकर देखा—व्रजेश्वरी दूध पीनेके लिये अपने नीलमणिको मधुर मनुहार कर रही हैं। अग्रज बलराम भी समीप ही बैठे हैं। उन्होंने तो जननीका लाड स्वीकारकर दूध पी लिया, किंतु हठीले श्रीकृष्णचन्द्र नहीं पीते। अन्तमें जननी बड़ी ही

आकर्षक युक्ति अपने पुत्रके सामने रखती हैं—

कजरी कौ पय पिबहु लाल (मेरे)! जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसैं देखि और ब्रज-बालक, त्यौं बल-बैस बढ़ै॥

तथा इस प्रलोभनमें श्रीकृष्णचन्द्र फँस ही जाते हैं। कजरीके दुग्धपानसे मेरी वेणी बड़ी लंबी हो जायगी, इस उल्लासमें भरकर वे दूध पीने लग जाते हैं; किंतु साथ-साथ अपने घनकृष्ण केशोंपर हाथ रखकर देखते जा रहे हैं कि वेणी वास्तवमें बढ़ी या नहीं। जब बढ़ती नहीं दीखती, तब उन्हें अपनी जननीकी वञ्चनाका भान होता है। उस समय उनके मुखारविन्दपर नाचती हुई विविध भावलहरियोंकी शोभा देखने ही योग्य है। पराजयका रोष, अब भविष्यमें दुग्धपानसे विरत होनेकी भावना, जननीके प्रति अविश्वास, क्षुधाकी निवृत्ति, दुग्धपानजन्य स्वाभाविक तृप्ति—ये सब एक साथ उनके कमनीय मुखकमलपर व्यक्त हो रहे हैं। यशोदारानी हँसी संवरण न कर सकीं—

पुनि पीवतहीं कच्च टकटोरत, झूठहि जननि रढ़ै।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै॥

अपनेको भूली-सी रहकर ग्वालिन यह दृश्य देख रही थी! इतनेमें जननीसे रूठे हुए श्रीकृष्णचन्द्र वहाँसे उठकर उसके समीप आकर खड़े हो गये। ग्वालिनका उनके शरीरसे किञ्चित् स्पर्श हो गया। फिर तो वह बाह्यज्ञानशून्य हो गयी। जब चेतना हुई, तब घरके लोगोंने उसे बताया, पूरे आठ पहर वह प्रस्तर-प्रतिमाकी भाँति निस्पन्द बैठी थी। किंतु वह नन्दभवनसे अपने आवासमें कैसे चली आयी, यह प्रश्न किसीके मनमें उदय न हुआ; स्वयं ग्वालिनने भी इसका रहस्य न जाना। जाननेका अवकाश ही जो न था। वह तो निरन्तर देख रही थी—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र दुग्धपान कर रहे हैं एवं वेणी बढ़ी कि नहीं, इसकी परीक्षा कर रहे हैं। जब समाधिसे बाहर आयी, तब भी झाँकी नेत्रोंके सामने बनी ही थी; चिर अभ्यासवश आधी घड़ीमें ही उसने आवश्यक गृहकार्यकी व्यवस्था कर दी और नन्दभवनकी ओर दौड़ चली। अस्तु—

आज तीसरे दिन वह पुनः आयी है तथा देख रही है—विविध पक्वान्न-मिष्टान्न थालोंमें सजाकर सामने रखकर व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रको लाड लड़ा रही हैं; किंतु पक्वान्न भोजन करनेकी बात तो दूर, श्रीकृष्णचन्द्र उस ओर ताक भी नहीं रहे हैं, बल्कि खीझकर कह रहे हैं—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा-पकवान कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥

वह गोपसुन्दरी श्यामसुन्दरके ठीक पीछे खड़ी है; श्रीकृष्णचन्द्रके मधुर वचनोंसे अमृत झर रहा है, उसे पीकर वह मत्त होती जा रही है। इस मत्तताके आवेशवश ही उसके अन्तस्तलमें आज सहसा एक वासना जाग उठती है—'क्या श्रीकृष्णचन्द्र कभी मेरे घर चलेंगे, मेरे घरका नवनीत ग्रहण करेंगे? पर मेरे सामने रहनेपर तो ये संकुचित हो जायँगे! अतः मैं तो दधि-मन्थन करके छिप जाऊँ और तब ये मथानीके समीप जायँ, वहाँ बैठकर यथारुचि माखन आरोगें; मैं यह देखकर निहाल हो जाऊँ। मेरे नेत्रोंकी यह साध कभी पूरी होगी क्या?'

ग्वालिन तो अपनी जानमें अपने मनमें मनोरथचित्र अङ्कित कर रही है, पर ये अङ्कित हो रहे हैं अनन्तैश्वर्यनिकेतन, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, प्रेमके भूखे, सर्वान्तर्यामी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मनःपटलपर—

बैठैं जाइ मथनियाँ कें ढिग, मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि मन की जानी॥

इस मनोरथके प्रवाहमें ग्वालिनका मन ही नहीं, शरीर भी मानो बह चला। सहसा वह नन्दभवनसे लौट पड़ी, अपने घर आ पहुँची। जाते समय दधिमन्थन किये बिना ही चली गयी थी। अब आकर यन्त्रपरिचालितकी भाँति दही बिलोने लग जाती है। रह-रहकर उसे ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो श्रीकृष्णचन्द्र उसके द्वारपर पधारे हैं; अचकचाकर वह कभी-कभी विस्फारित नेत्रोंसे द्वारकी ओर देखने भी लग जाती है, पर द्वार सूना पाकर पुनः अपने भावोंमें विभोर हो जाती है। उसे यह पता नहीं कि मनोरथतन्तुमें बँधे, आकृष्ट होते हुए वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र वास्तवमें ही उसके घरकी ओर चल पड़े हैं।

सचमुच ज्यों ही गोपसुन्दरी नेत्रोंसे ओझल हुई कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी गोदसे कूदकर बाहरकी

ओर भाग चले। जननीने लपककर थाम तो लिया, पर अतिशय चेष्टा करके भी आज पक्वान्न-मिष्टान्न से उन्हें न खिला सकीं। केवलमात्र किञ्चित् माखन मुखमें डाल सकीं। आज क्षणभरका भी विलम्ब श्रीकृष्णचन्द्रको सर्वथा असह्य हो रहा है। वे हाथ छुड़ाकर आखिर भाग ही गये। यशोदारानीको भी आश्चर्य हो रहा है; क्योंकि नीलमणिको बाहर जानेके लिये इतना अधिक व्यग्र उन्होंने पहली बार देखा है। अस्तु,

श्रीकृष्णचन्द्र क्षणभरमें ही गोपसुन्दरीके घरपर चले आये—

गए स्याम तिहिं ग्वालिनि कें घर।
देख्यौ द्वार नहीं कोउ, इत-उत चितै, चले तब भीतर॥

बलराम एवं अन्य गोपबालक घरसे उनके साथ अवश्य चले थे; किंतु पथमें सभी पीछे रह गये, भ्रान्त होकर दूसरी ओर बढ़ गये। श्रीकृष्णचन्द्र निर्बाध एकाकी ग्वालिनके घरपर आये हैं। ग्वालिनने द्वारकी ओर देखा—हैं! नन्दनन्दन तो मेरे द्वारपर खड़े हैं। ओह! यह रूप! ग्वालिनके प्राणोंमें स्पन्दन होने लगता है। पर क्षणभरका भी विलम्ब मनोरथको तोड़ देगा! ग्वालिन विद्युद्गतिसे मणिस्तम्भकी ओटमें अपनेको छिपा लेती है—

हरि आवत गोपी जब देख्यौ, आपुन रही छपाई।

तब श्रीकृष्णचन्द्र चुपचाप भीतर प्रवेश कर जाते हैं, मथानीके निकट जाकर शान्त-मौन होकर बैठ जाते हैं—

सूनें सदन मथनियाँ कें ढिग बैठि रहे अरगाई।

ओह! उस समय उनकी अतुलित शोभा निहारकर गोपसुन्दरीका अणु-अणु मानो झंकार कर उठता है—

मुख पर चंद डारौं वारि।
कुटिल कच पर भौंर वारौं, भौंह पर धनु वारि॥
भाल केसर तिलक छबि पर मदन सत सत वारि।
× × ×
नयन खंजन मीन वारौं, कमल के कुल वारि॥
× × ×
अलक ललित कपोल छबि पर मुकुर सत सत वारि।
नासिका पर कीर वारौं, अधर बिद्रुम वारि॥
दसन पर कन बज्र वारौं, बीज दाड़िम वारि।
चिबुक पर चित बित्त वारौं, प्रान वारौं वारि॥
सूर प्रभु की निरखि सोभा को सकै निरवारि।

किंतु अब वह सौन्दर्यसागर मानो तरङ्गित हो उठता है, श्रीकृष्णचन्द्र ग्वालिनके मनोरथकी पूर्ति करते हुए नवनीत-हरणकी लीला करने चलते हैं। उनके पास ही नवनीतपूर्ण एक पात्र पड़ा है। चञ्चल नेत्रोंसे एक बार वे द्वारकी ओर देखते हैं तथा फिर पात्रमेंसे माखन निकालकर खाने लग जाते हैं। सहसा मणिस्तम्भमें उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। उन्हें प्रतीत होता है कि मेरे आनेसे पूर्व एक अन्य शिशु यहाँ आया है, मणिस्तम्भसे सटकर खड़ा है। श्रीकृष्णचन्द्रको यह भय होने लगता है कि कहीं यह मेरी चोरी प्रकट न कर दे। वे उसे प्रलोभित करने लगते हैं। उससे कहते हैं—'भैया! देख, तू किसीसे मेरी बात बता न देना, भला! आजसे हम दोनों साथी हुए, हमलोग सभी वस्तु आधी-आधी बाँट लेंगे। यह ले, मैं खा रहा हूँ; तू भी खा!' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्र अपने हाथोंसे नवनीत उठाकर प्रतिबिम्बके मुखमें डाल देते हैं। तत्क्षण माखन नीचे गिर जाता है। वे सोचते हैं, शिशु रूठा हुआ है। उसे पुनः समझाते हैं—'अरे! तू फेंक क्यों दे रहा है? बावला हो गया है! नहीं भैया, यह ठीक नहीं; तू भी खा ले, मैं भी खाऊँ। अच्छा, बाँटकर खायगा? ले, यह एक लौंदा तेरे हाथपर, एक मेरे हाथपर। हैं! तूने फिर गिरा दिया! क्या सब लेना चाहता है? नहीं-नहीं, यह तो उचित नहीं। अच्छा, अब तू मान जा, खा ले; देख, कितना मीठा है! यदि तुझे भी अत्यन्त रुचिकर लगे तो मैं कमोरी भरकर तुझे माखन दूँ।'

नन्दनन्दनकी यह मुग्ध चेष्टा देखकर ग्वालिनके हृदयमें प्रेम-समुद्र लहराने लगता है, रसतरङ्गोंके आवेगसे धैर्यका बाँध टूट जाता है। आनन्दपूरित हँसीके रूपमें तरंगें मुखसे बाहर आ जाती हैं, ग्वालिन स्तम्भकी ओटसे मुख निकालकर हँसने लग जाती है। बस, फिर तो यवनिका गिर गयी। दृश्य परिवर्तित हो गया। श्रीकृष्णचन्द्रने ग्वालिनको देख लिया। एक अप्रतिम सुमधुर संकोचकी छाया नन्दनन्दनके मुखचन्द्रको आवृत कर लेती है, साथ ही वे तुरंत उठकर कुञ्जवीथीकी ओर भाग चलते हैं—

आजु, सखी! मनि-खंभ निकट हरि, जहँ गोरस को गों री।
निज प्रतिबिंब सिरुआवत ज्यौं सिसु, प्रगट करै जनि चोरी॥
अरध बिभाग आजु तैं हम-तुम, भली बनी है जोरी।
माखन खाहु, कतहिं डारत हौ, छाँड़ि देहु, मति भोरी॥
बाँट न लेहु, सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी।
मीठो अधिक, परम रुचि लागै, तौ भरि देउँ कमोरी॥
प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ, तब प्रगट हँसी मुख मोरी।
सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी॥

ओह! जिनसे इस जगत्का सृजन, संस्थान, संहार है, जिनकी सत्तापर ही जगत्की सत्ता अवलम्बित है, जगत्का अवसान हो जानेपर भी जो अक्षुण्ण रहते हैं, जो सर्वज्ञ हैं, अखण्ड अबाध ज्ञानसम्पन्न हैं, स्वयंप्रकाश हैं, जो अपने संकल्पमात्रसे पद्मयोनिमें वेदज्ञानका विस्तार करते हैं, जिनके सम्बन्धमें योगीन्द्र-मुनीन्द्र विमोहित हो जाते हैं, जिनके ज्ञानमय प्रकाशसे माया सदा निरस्त रहती है, उनका अपने प्रतिबिम्बसे मोहित हो जाना कितना आश्चर्यमय है! जिस मायासे मोहित होकर जगत्के मूढ़ प्राणी 'मैं-मेरे' का प्रलाप कर रहे हैं, वही माया जिनके दृष्टिपथमें ठहर भी नहीं पाती, लज्जित होकर भाग खड़ी होती है—

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥

(श्रीमद्भा० २। ५। १३)

—उनका मणिस्तम्भमें अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर भ्रमित हो जाना कितना मोहक है! ओह! जिन विराट्के कटिसे ऊपरके भागमें भूलोक, नाभिमें भुवर्लोक, हृदयमें स्वर्लोक, वक्षःस्थलमें महर्लोक, ग्रीवामें जनलोक, स्तनोंमें तपोलोक एवं मस्तकमें सत्यलोककी कल्पना है, कटिदेशमें अतल, ऊरुओंमें वितल, जानुओंमें सुतल, जङ्घाओंमें तलातल, गुल्फोंमें महातल, एड़ियोंमें रसातल एवं पादतलमें पाताल कल्पित है; जिन विराट्के मुखसे वाणी एवं अग्नि उत्पन्न हुए; गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पङ्क्ति एवं जगती—ये सात छन्द जिनकी सात धातुओंसे निर्गत हुए; हव्य, कव्य, अमृतमय अन्न, समस्त रस, रसनेन्द्रिय एवं वरुण जिनकी जिह्वासे निस्सृत हुए; पञ्चप्राण एवं वायु जिनके नासाछिद्रोंसे उद्भूत हुए; अश्विनीकुमार, ओषधिसमुदाय, मोद (साधारण गन्ध), प्रमोद (विशेष गन्ध) जिन विराट्की घ्राणेन्द्रियसे उत्पन्न हुए; रूप एवं तेज जिनके नेत्रेन्द्रियसे निकले; सूर्य एवं स्वर्ग जिनके नेत्रगोलकसे प्रकट हुए; समस्त दिशाएँ, समस्त तीर्थ जिनके कर्णयुगलसे व्यक्त हुए; आकाश एवं शब्द जिनके श्रोत्रेन्द्रियसे निकले; जिन विराट्का शरीरसंस्थान समस्त वस्तुओंका सारस्वरूप एवं समस्त सौन्दर्यका भाजन है; जिनकी त्वचासे सारे यज्ञ, स्पर्श एवं वायु निकले; जिनके रोमसे यज्ञके उपकरणभूत समस्त उद्भिज्ज उद्भूत हुए; जिनके केश, श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) एवं नखोंसे मेघ, विद्युत्, शिला, लोह प्रकट हुए; जिनकी भुजाओंसे रक्षक लोकपाल आविर्भूत हुए; जिनका पदसंचालन भूः, भुवः, स्वः—त्रिलोकका निर्माण कर देता है; जिनके शंतम—भयहारी चरणकमल अप्राप्तकी प्राप्ति एवं प्राप्तकी रक्षा कर देते हैं, समस्त कामनाओंकी पूर्ति कर देते हैं; जो विराट् जल, वीर्य, सर्ग, पर्जन्य, प्रजापति, कामसुख, यम, मित्र, मलत्याग, हिंसा, निर्ऋति, मृत्यु, निरयके उद्गम हैं; जिनके पृष्ठदेशसे पराजय, अधर्म, अज्ञान उद्भूत हुए; जिनकी नाड़ियोंसे नद-नदी-समूहका निर्माण हुआ; जिनके अस्थिसंस्थानसे पर्वतश्रेणियाँ निर्मित हुईं; जिनके उदरमें मूलप्रकृति रस नामक धातु, समुद्र, समस्त प्राणिसमुदाय, प्राणियोंका निधन समाया हुआ है; जिनके हृदयसे मनकी अभिव्यक्ति हुई; जिनका चित्त ब्रह्मा, शंकर, नारद, धर्म, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमारका आश्रय है, विज्ञान एवं अन्तःकरणका आधार है; अधिक क्या, जिन विराट्की ही अभिव्यक्ति ये ब्रह्मा, शंकर, नारद, सनकादि हैं; सुर, असुर, नर, नाग हैं; खग, मृग, सरीसृप हैं; गन्धर्व, अप्सराएँ हैं; यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, सर्प हैं; जिनकी मूर्तिमें पशु हैं, पितर हैं, सिद्ध हैं, विद्याधर हैं, चारण हैं, द्रुमपुञ्ज हैं; जिन विराट्की परिणति नभ-जल-थलवासी विविध जीव

हैं, जिन विराट्के ही रूप ग्रह, नक्षत्र, केतु, तारावलि, तडित्, मेघ हैं; अतीत, वर्तमान एवं भविष्यके विश्व जिनके रूप हैं;* उन विराट्पुरुषके भी स्रष्टा स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका यह नवनीत-हरण, यह मुग्धभाव, यह शैशव-नाट्य कितना विस्मित कर देनेवाला है! भक्तवत्सलताका ऐसा निदर्शन व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त और कहीं है क्या? व्रजेन्द्रनन्दन! यशोदाप्राणधन! श्रीकृष्णचन्द्र! बलिहारी है तुम्हारी ऐसी मुनिमनहरणी मोहिनी भक्तसर्वस्वदायिनी लीलाकी!

वह बड़भागिनी गोपसुन्दरी तो आनन्दातिरेकवश आत्मविस्मृत हो गयी। विक्षिप्त-सी हुई घरसे बाहर निकल पड़ी। उसकी यह अत्यन्त अद्भुत विचित्र दशा देखकर अन्य गोपसुन्दरियाँ तो चकित रह गयीं। उसके रोम-रोमसे आनन्द झर रहा है, इतना तो स्पष्ट था; किंतु इस परमानन्दका हेतु कोई भी व्रजसुन्दरी ढूँढ़ नहीं पा रही थी। सभी कारण पूछतीं, पर बताये कौन? ग्वालिन तो दूसरे मनोराज्यमें रह रही थी। जब कभी यहाँ इस शरीरमें आती भी तो कण्ठको रुद्ध पाती, सखियोंको कुछ भी बतानेमें असमर्थ हो जाती। दूसरे दिन सारा भेद खुल गया, पर आज तो ग्वालिन केवल इतना ही बता सकी—बहिन! मैंने एक अनूप रूपके दर्शन पाये हैं—

फूली फिरति ग्वालि मन मैं री।
पूछति सखी परस्पर बातैं, पायौ परयौ कछू कहुँ तैं री?
पुलकित रोम-रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।
ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

---

* भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्। मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः। जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम्॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्। पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥
वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः। हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने। अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः। तद्वात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्॥
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि। रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः॥
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम्। बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्॥
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च। सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्॥
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः। पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः॥
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद। हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः॥
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः। नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः॥
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च। उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्॥
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च। विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्॥
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः। सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः। पशवः पितरः सिद्धा विद्याश्चारणगुह्यकाः॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः। ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
(श्रीमद्भा० २। ५। ३८—४१; २। ६। १—१५)

द्वितीय माखन-चोरी-लीला

उमड़-घुमड़कर काले मेघ बरस चुके हैं। इन्द्रधनुष उदित हो आया है, मानो वर्षा-सुन्दरीने व्रजपुरके आकाशपर रत्नोंकी बंदनवार बाँधी हो! ग्रीष्म एवं पावसकी संधिपर श्रीकृष्णचन्द्रकी मणिस्तम्भ-लीला—प्रथम नवनीतहरण-लीलाकी झाँकीसे उन्मादिनी हुई वर्षा-सुन्दरी व्रजमें घूम रही है; वन-उपवन, नद-नदी, ह्रद-सरोवर—जहाँ जाती है वहीं हृदय उमड़ पड़ता है, नाचने लगती है, परिधानका कृष्णवर्ण अञ्चल उड़ने लगता है। नृत्यके आवेशमें वह सुदूर आकाशमें उड़ गयी, अंशुमालीकी किरणोंने उसके गलेमें रत्नोंका हार पहना दिया; किंतु अब आभूषण धारण करनेकी उसे लालसा जो नहीं है। अब तो वह श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाङ्कित व्रजपुरका आभूषण स्वयं बन जाना चाहती है, अपने अङ्गका अणु-अणु व्रजपुरमें विलीन कर देना चाहती है; इसीलिये उसने किरणोंके उपहार—रत्नोंके हारको तोड़ डाला तथा उन सात रंगोंके रत्नोंके द्वारा व्रजेन्द्रकी पुरीको सजानेके उद्देश्यसे क्षितिजको छूती हुई बंदनवार बाँध दी। श्रीकृष्णचन्द्र इसी बंदनवार—आकाशमें उदित इन्द्रचापकी ओर देख रहे हैं। नन्दोद्यानकी तमालवेदिकापर अपने सखा वरूथपकी गोदमें सिर रखकर, अर्द्धशायित हुए उस रत्न-धनुषकी शोभा निहार रहे हैं, इन्द्रचापका सौन्दर्य वर्णन करके सखाओंको सुना रहे हैं। पर स्वयं उनके श्रीअङ्गोंका सौन्दर्य कितना मोहक है, इसे वे स्वयं नहीं अनुभव करते। ओह! वह सघन कुन्तलराशि, मुखचन्द्रपर बिखरी हुई अलकावलीकी लटें, वे विशाल नेत्र, वह मृदु बोलन, वह मधुस्रावी अधरयुग्म, ललित वदनारविन्द, वे चञ्चल चेष्टाएँ—इन्हें जो निहार सके, उसे ही भान होता है कि इस सौन्दर्यमें कितनी मादकता भरी है—ऐसी मादकता जो मन-प्राण-इन्द्रियोंको विमोहित कर दे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष वर्तमान रहनेपर भी उनकी रूपसुधामें नेत्रोंके नित्य निमग्न रहनेपर भी चित्त हाहाकार कर उठे कि 'हाय! श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन मुझे कब होंगे—

चिकुरं बहुलं विरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं ललितं वदनं चपलं चरितं च कदानुभवे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

अस्तु, इसी समय एक व्रजसुन्दरी वहाँ आयी। आकर बोली—'नीलमणि! व्रजेश्वरी तुम्हें बुला रही हैं, मेरे साथ घर चलो।'

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रको अवकाश कहाँ कि जननीके आह्वानका उत्तर भी दे सकें। वे तो उस सुन्दर धनुषके अरुण, नारङ्ग, पीत, हरित, उज्ज्वल, नील और अरुणिमनील वर्णोंका विश्लेषण करके सखाओंको दिखा रहे हैं, रंगोंकी गणना कर रहे हैं। व्रजसुन्दरी भी मुग्धभावसे श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यमाधुरीका रस लेने लगती है। कुछ क्षण पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र उसकी ओर देखते हैं, तब उसे यह ज्ञान होता है कि 'मैं केवल देखने नहीं, मैं तो बुलाने भी आयी हूँ।' अतः स्मरण होनेपर वह पुनः श्रीकृष्णचन्द्रसे चलनेके लिये कहती है। इस बार श्रीकृष्णचन्द्रने उत्तर दे दिया—'अभी तो मैं खेल रहा हूँ, नहीं जाऊँगा।'

यह गोपसुन्दरी नन्दभवनमें आयी थी। इसने अन्य पुर-रमणियोंके मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रके मणिस्तम्भमें अपने प्रतिबिम्बसे भ्रमित होनेकी लीला तथा—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आपु भजे ब्रज खोरी॥

—इसका विस्तृत वर्णन सुनी। सुनकर प्रेममें डूब गयी, उसी क्षण व्रजेश्वरीके पास पहुँची। गद्गदकण्ठसे पूछा—'व्रजरानी! नीलमणि किधर है?' उत्तरमें यशोदारानीने उद्यानकी ओर संकेत कर दिया तथा बोली 'बहिन! तू उधर जाय तो उसे कह देना कि मैया बुला रही है और अपने साथ ही लेती आना।' बस, वह मन्त्रमुग्धा-सी अविलम्ब उद्यानकी ओर दौड़ पड़ी। तमालवेदीपर गोपशिशुओंके कोलाहलने उसे श्रीकृष्णचन्द्रका पता बता दिया और वह वहाँ जा पहुँची।

जब श्रीकृष्णचन्द्रने घर लौटना अस्वीकार कर दिया, तब वह वहीं बैठ गयी। उसके नेत्र छलछल करने लगे। इसलिये नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्र घर क्यों नहीं चल रहे हैं, उसके हृदयकी तो वेदना ही दूसरी है। वह सोच रही है—'हाय! मैं अभागिनी नन्दभवनसे इतनी दूर क्यों बसी; जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उस ग्वालिनके घर गये, माखन खाया, वैसे इतनी दूर मेरे घर आनेकी, मेरा माखन आरोगनेकी तो सम्भावना ही नहीं है।' ये भाव गोपसुन्दरीके प्राणोंमें टीस उत्पन्न कर रहे थे। इसीलिये उसके नेत्र भर आये। वह अपने भावोंको संवरण करना चाहती है, किंतु कर नहीं पाती। श्रीकृष्णचन्द्रके सलोने मुखकी ओर जितना देखती है, उतनी ही यह लालसा प्रबल होती जा रही है। यहाँतक कि उसे अनुभव होने लगा कि 'यदि कुछ क्षण मैं यहाँ और रुकी रही तो इस लालसाके भारसे चेतनाशून्य हो जाऊँगी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस स्वच्छन्द, आनन्दमयी क्रीड़ामें विघ्न हो जायगा।' इसीलिये वह अपना सारा साहस, धैर्य बटोरकर उठ खड़ी हुई, नन्दभवनकी ओर लौट पड़ी। उसे पथ नहीं दीख रहा है, नेत्रोंसे अश्रुधारा दोनों कपोलोंपर बह रही है। किसी तरह अपनेको सँभाले और नेत्रोंमें, हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रकी झाँकी लिये वह चली जा रही है। व्रजेश्वरीके निकट पहुँची, किंचित् धैर्य हो आया; नीलमणिने आना स्वीकार नहीं किया, यह बात व्रजरानीको बताकर वह अपने घर चली गयी।

गोपसुन्दरीके मनोगत भावोंका और किसीको तो पता नहीं, पर व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीला-महाशक्तिको सब कुछ ज्ञात है। वे ही तो यशोदाके वात्सल्य-सुधा-सागरपर संतरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी चेष्टाओंका नियन्त्रण करती हैं। वात्सल्यकी कौन-सी पयस्विनी इस सागरसे मिली है, कहाँपर संगम है, कौन-सी वात्सल्यधारा मिलने आ रही है, कहाँ संगमित होगी, किस संगमपर, किस वात्सल्यतीर्थपर श्रीव्रजेशपुत्रको आज स्नान कराना है—इन सबकी पूरी सूची उन्हींके पास तो है। अपने इच्छानुसार अपने निर्दिष्ट क्रमसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको लहरोंपर बहाती हुई किसी संगमपर ले जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ स्नान करते हैं, अञ्जलिमें भरकर वात्सल्यसुधाका पान करते हैं, एक-दो छींटे किनारेपर बिखेर देते हैं, इन्हीं बिन्दुओंसे प्रपञ्च-जगत्के वात्सल्य-स्रोतमें रसका संचार सदा होता रहता है, स्रोत कभी सूखता नहीं। अतः लीलामहाशक्तिको व्रजसुन्दरीके हृदयकी धाराका पूरा पता है। वे जानती हैं कि यह धारा भी इसी सागरसे मिलने आ रही है। इन्हें तो प्रत्येकके संगमपर श्रीकृष्णचन्द्रको अवगाहन—प्रत्येककी पवित्र सुधाका मुक्त आस्वादन कराना है। इसीलिये वे क्रमशः सबके लिये द्वार खोलती रहती हैं। अतः इसके लिये भी कपाट उन्मुक्त करने चलीं।

श्रीकृष्णचन्द्र उसी प्रकार वरूथपके अङ्कमें विराजित हैं। परस्पर भावसके अनुरूप विविध क्रीड़ाकी चर्चा चल रही है। अब सुबल क्रीड़ाकी नयी योजना रख रहा है तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य सखा सुन रहे हैं। सहसा श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र निमीलित हो गये। ठीक इसी समय लीलाशक्तिका संकेत पाकर सर्वज्ञताने उनके हृदयका किंचित् स्पर्श किया और धीरेसे बोली—'बाल्यलीला-विहारिन्! नाथ! मेरे स्वामिन्! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंके कुछ हृदय-चित्र लिखकर ले आयी हूँ। यह देखो, जो गोपसुन्दरी अभी तुम्हें बुलाने आयी थी उसके हृदयका यह चित्र है। इसके पश्चात् देव! इन अगणित व्रजाङ्गनाओंके हृदयोंको देख लो, सबकी उत्कण्ठा परख लो। विभो! यह देखो, सभीने कितने स्नेहसे तुम्हारे लिये नवनीत सजाया है, आकुल प्राणोंसे किस प्रकार तुम्हारी पल-पल प्रतीक्षा कर रही हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे घर आयें, छिपकर हमारा माखन आरोगें। गोलोकविहारिन्! सर्वथा अमर्यादित स्वरूपभूत परमानन्दरस-वितरण, परमानन्दरसास्वादनके लिये ही तो तुम्हारा अवतरण हुआ है। उस रसकी उपयुक्त पात्र ये व्रजवासिनी गोपिकाएँ भी तुम्हारा दान लेने, तुम्हें रस देनेके लिये प्रस्तुत बैठी हैं। नाथ! व्रजके अतिरिक्त अन्य सभी

लीलाओंमें तुम्हारा ऐश्वर्य तुम्हारे परिकरोंको आवृत किये रहता है, सम्भ्रमरहित विशुद्ध रसका आस्वादन तुम्हें कहीं प्राप्त नहीं होता। पर यह तो तुम्हारा अपना व्रज है। व्रजवासी तुम्हारे निजजन हैं। यहाँ तुम यशोदाके लिये उनके गर्भजात नीलमणि हो, गोपसुन्दरियोंके लिये भी यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रमात्र हो। ऐसा बानक अन्यत्र कहाँ। वाञ्छाकल्पतरो! इन सबके मनोरथ पूर्ण करो। रस देकर, रस-आस्वादन कर इन वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको वात्सल्यपयोनिधिमें डुबा दो नाथ!.....।' श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा गयी। उन्होंने लीलाशक्तिकी इस प्रार्थनाका अनुमोदन ही किया—

मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कें माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज-लोग॥

नन्दनन्दन उठ बैठे। हँसकर सखाओंसे बोले—'भैयाओ! माखन खानेका खेल खेलोगे'? 'माखनका खेल!!' दो-चारने एक साथ आश्चर्यमें भरकर कहा। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रने नवनीतहरणलीलाकी अपनी विस्तृत योजना सखाओंके समक्ष रख दी। किस प्रकार हमलोग छिपकर प्रत्येक गोपीके घरमें जायँ, मैं माखनकी मटकी उठा लाऊँ और फिर हम सब मिलकर खायँ, दूसरे पशु-पक्षियोंको खिलायें, गिरायें, माखनकी कीच मचायें—ये सारे विचार श्रीकृष्णचन्द्रने गोप-सखाओंको समझाये। सुनकर गोप-शिशुओंके आनन्दका पार नहीं। ताली पीट-पीटकर वे उस तमालवेदीपर नाचने लगे। व्रजेश्वरकी सौंह खाकर सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा करने लगे—

करैं हरि ग्वाल संग बिचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल-बिहार॥
यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ।
हँसि परस्पर देत तारी, सौंह करि नँदराइ॥
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई, स्याम चतुर सुजान।
सूर प्रभु मिलि ग्वाल-बालक, करत हैं अनुमान॥

अब भुवनभास्कर अस्ताचलकी ओर जा रहे थे। व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको लेने आ गयी थीं। अतः श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनकी ओर चल पड़े। जाते समय अपनी मोहिनी चितवनके संकेतसे सखाओंको कार्यक्रमकी बात बताते गये। भवनमें जाकर जननीके परम ललित लाड़से सिक्त होकर शीघ्र ही सो गये। जब दूसरे दिन प्रभातके समय जागे तो सखामण्डली उन्हें घेरे खड़ी थी।

यशोदारानीने विधिवत् उबटन-स्नान-शृङ्गार आदिसे श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंको सजाया, सखाओंको साथ बैठाकर सबको समान भावसे कलेवा करवाया, जल पिलाया, ताम्बूल खिलाये। फिर खेलने जानेकी अनुमति दे दी। तुमुल आनन्दनाद करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपशिशु बाहरकी ओर दौड़ पड़े। आगे-आगे श्रीकृष्णचन्द्र हैं, उनके पीछे गोपबालक। गोपशिशु नहीं जानते कि कहाँ जाना है, वे तो नन्दनन्दनका अनुसरण कर रहे हैं; तथा नन्दनन्दन बिना रुके, सीधे उस गोपसुन्दरीके घर जा रहे हैं, जो उन्हें कल तमालवेदीपर बुलाने गयी थी। देखते-ही-देखते उसके गृहके निकट जा भी पहुँचे।

गोपसुन्दरी उस समय दधिमन्थन कर रही थी। पर उसे अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं है, किसी और ही भावमें वह तन्मय हो रही है—मन्थनक्रियासे यह स्पष्ट झलक रहा था। सखासहित श्यामसुन्दर उपयुक्त अवसरपर ही नवनीतहरण—माखन-चोरीके लिये पधारे हैं तथा गवाक्ष-रन्ध्रसे व्रजसुन्दरीका दधिमन्थन देख रहे हैं—

सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी॥

आकाशपथसे अमर, किंनर, विद्याधर, गन्धर्व आदि इस परम-मनोहारिणी मोहिनी लीलाके दर्शन कर कृतार्थ हो रहे हैं। नवनीतहरण करने—माखन चुराने कौन आया है? वे आये हैं; जिनके प्रत्येक रोमकूपमें—जैसे आकाशमें वायुसंचारित क्षुद्र रजःकण उड़ते रहते हैं, वैसे—उत्तरोत्तर दसगुणित सप्तावरणसमन्वित

असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ घूमते रहते हैं, जिनका अन्त स्वर्गादि-लोकाधिपति ब्रह्मा, इन्द्र प्रभृति नहीं जानते, नहीं जान सकते; जो इतने अनन्त हैं कि अपना अन्त स्वयं नहीं जानते; जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन श्रुतियाँ नहीं कर सकतीं; स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छा-
यमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्र-
मवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।*

वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है; उसमें न अन्तर है, न बाहर है—इस प्रकार निरसन करते-करते श्रुतियाँ जिनमें जाकर समाप्त हो जाती हैं, अपनी सत्ता विलीनकर सफल हो जाती हैं—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह
यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। ४१)

जो इस विश्वका संकल्प करते हैं; जो विश्वके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें स्थित हैं; जो प्रकृति-पुरुषके स्वामी हैं; जो विश्वका सृजन करके जीवके साथ इसमें प्रविष्ट हो गये हैं; जिन्होंने जीवभोगायतन शरीरसमूहकी रचना की है; जो इन शरीरोंका नियन्त्रण करते हैं; जिन्हें प्राप्तकर जीव—जैसे सुषुप्तिमें निमग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसंधान छोड़ देता है, वैसे—मायापाशसे मुक्त हो जाता है; जो नित्य अच्युतस्वरूपमें अवस्थित हैं; जिन्हें माया तिलमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती; जो सर्वथा विशुद्ध हैं; जो अभयपद हैं; जिनका निरन्तर चिन्तन ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है—

योऽस्योत्क्षेपक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरः
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। ५०)

—वह नराकृति ब्रह्म, वे प्रकृति-पुरुषके स्वामी पुरुषोत्तम ही तो आज गोपसुन्दरीके घर नवनीत-हरण करने, माखन चुराने आये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र! जय हो तुम्हारी इस विश्वचमत्कारिणी लीलाकी!

किंतु वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रकी यह चेष्टा क्या चोरीमें परिगणित हो सकती है? नहीं, चोरी तो उसे कहते हैं कि परायी वस्तुको, उसकी इच्छाके बिना, उसकी अनुपस्थितिमें कोई अपने अधिकारमें कर ले। पर श्रीकृष्णचन्द्रसे अतिरिक्त कौन-सी वस्तु है, जिसे वे अपने अधिकारमें करें? उनके अतिरिक्त कौन है, जिसकी इच्छाके बिना, जिसकी अनुपस्थितिमें वे वस्तु ग्रहण करें? जब—

नान्यद् भगवतः किंचिद् भाव्यं सदसदात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० २। ६। ३२)

—भाव या अभाव, कार्य या कारणरूपमें कोई वस्तु नहीं जो श्रीकृष्णसे भिन्न हो, तब वे कब, कहाँ, किसकी, किसलिये, कौन-सी वस्तु चोरी करेंगे? तो फिर यह क्या है? यह है वात्सल्य-रस-वितरणकी एक प्रकृष्ट प्रक्रिया, वात्सल्य-रसास्वादनकी एक पवित्र प्रणाली, भक्तमनोरथपूर्तिकी एक मधुर मनोहर सुन्दर योजना, बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यावेशकी एक अप्रतिम झाँकी। इस झाँकीकी जय हो! जय हो!! जय हो!!!

अस्तु, दधिमन्थन करनेवाली उस गोपसुन्दरीके गृहके समीप जाकर सखाओंके सहित श्रीकृष्णचन्द्र छिप रहे। उसने भी बिलोना स्थगित कर दिया। उसे अब दीख रहा था कि नवनीत ऊपर आ गया है। नवनीत तो कभीका ऊपर आ गया था, पहरभर रात्रि

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३। ८। ८।

शेष थी, तभी उसने मन्थन आरम्भ किया था। तबसे बिलो रही है। पर उसका चित्त यहाँ हो तब तो। वह तो मन-ही-मन नन्दभवनमें जा पहुँची थी, श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत आरोगनेका मूक निमन्त्रण दे रही थी। उसने भले न जाना; पर उसका यह मूक निमन्त्रण स्वीकार करके जब श्रीकृष्णचन्द्र उसके घरपर वास्तवमें पधार गये तब माखन उतारनेका भान उसे हुआ है। पर यह देखो, आज घरकी कमोरी भी कोई उठा ले गया है। गोपसुन्दरी कमोरी माँगने बाहर गयी। इधर श्यामसुन्दरको अवसर मिल गया। सखाओंके साथ वे तत्क्षण अन्तर्गृहमें प्रविष्ट हो गये। वहाँ जो कुछ भी दही-माखन था, सबका भोग लगाकर रीती मटुकी वहीं छोड़कर हँसते हुए शीघ्र ही बाहर चले आये।

हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हौ उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई हौं घात॥
पैठे सखनि सहित घर सूनें, दधि माखन सब खाए।
छूछी छाँडि मटुकिया दधिकी, हँसि सब बाहिर आए॥

उधरसे गोपसुन्दरी हाथमें कमोरी लिये आ पहुँची। देखा— बहुत-से गोपशिशु मेरे घरसे बाहर निकल रहे हैं और यशोदाके नीलमणि उनके पीछे हैं। नीलमणिके अरुण अधरोंपर उज्ज्वल नवनीत लग रहा है, हस्तकमल माखनसे सन रहे हैं।

आइ गई कर लिऐं कमोरी, घर तैं निकसे ग्वाल।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल॥

गोपसुन्दरी मनोरथ-पूर्तिके महान् आनन्दसे विह्वल हो गयी। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह स्वप्न देख रही है। किंतु सहसा उसके स्मृतिपटपर किसीने तूलिका फेर दी, वह यह बात सर्वथा भूल गयी कि उसने कभी यह इच्छा की थी कि नीलमणि मेरे घर आकर मेरा माखन आरोगें। अतीतके उत्कण्ठामय संस्मरण सर्वथा विलुप्त हो गये। अब उसे इतना ही भान है कि सखाओंको साथ लिये नीलमणि मेरे गृहतोरणके पास खड़े हैं, उनका मनोहर मुखारविन्द माखनसे सना है। सरलतासे वह पूछ बैठी—

कहँ आए ब्रज-बालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ।

उत्तरमें श्यामसुन्दर कुछ कहने लगे। पर उन्होंने क्या कहा, ग्वालिन सुनकर भी कुछ सुन न सकी। उनके सलोने माखनसने मुखकी मन्द हँसीमें उसकी चेतना सहसा विलुप्त होने लगी। इतनेमें श्यामसुन्दरने अपने सखा एक गोपशिशुकी भुजा पकड़ ली तथा वे व्रजकी गलीमें चल पड़े। ग्वालिन निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर देख रही है। अन्धकार होता तो बात थी। दिनके उज्ज्वल प्रकाशमें हरि— श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरीका मन हरणकर— चित्त चुराकर चले गये और वह ठगी-सी खड़ी रह गयी—

भुज गहि लियौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज की खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि॥

अपने द्वारपर स्वर्णपुतली-सी खड़ी वह उस ओर देखती रहती है जिधर श्रीकृष्णचन्द्र गये हैं। जब मध्याह्न होने लगता है तब कहीं वह अन्तर्गृहमें प्रवेश करती है। नवनीतकी रिक्त मटकी देखकर सोचती है कि माखनभरे पात्रको मैं सम्भवतः कहीं अन्यत्र रख आयी हूँ, इधर-उधर उसे ढूँढ़ती फिरती है। इतनेमें दीख पड़ता है— घरके जितने स्वर्ण, रौप्य, कांस्य, मृण्मय पात्र थे वे सभी छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। श्यामसुन्दरकी चञ्चल चेष्टाओंसे वह परिचित अवश्य है, पर अब उसके पास मन जो नहीं रहा। निर्णय कौन करे? मनके स्थानपर तो श्यामसुन्दरका रस भरा है—

देखै जाइ मटुकिया रीती, मैं राख्यौ कहुँ हेरि।
चकित भई ग्वालिनि मन अपनें, ढूँढ़ति घर फिरि फेरि॥
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हरि लियौ गोपाल।
सूरदास रस भरी ग्वालिनी जानै हरि कौ ख्याल॥

माखन-चोरीके व्याजसे श्रीकृष्णका सम्पूर्ण व्रजमें रस-सरिता बहाना

परस्पर जुड़े हुए तारोंमें किसी एकपर स्वरलहरी उदय होते ही अन्य तार भी झङ्कृत हो उठते हैं। इसी प्रकार वात्सल्य-प्रेमवती गोपसुन्दरियोंके हृदयतन्तुपर श्रीकृष्णचन्द्रकी दो नवनीतहरण-लीलाएँ झङ्कृत हो उठीं—

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि-माखन चोरी करि लै, हरि ग्वाल-सखा सँग खात॥

परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गोपसुन्दरी मनोरथका राग अलापने लगी—

कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं देखौं अपनें धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि॥

मानो पहले केवल स्वरमात्र था, फिर संगीत आरम्भ हुआ एवं अब उसी तालबन्धपर श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करने लगे। बलराम एवं गोपसखाओंके साथ वे गोपसुन्दरियोंके घर जाते, अपनी सुमधुर चेष्टाओंसे रसकी सरिता बहा देते, गोपसुन्दरियाँ उसमें निमग्न हो जातीं, सुध-बुध खो बैठतीं—

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २७)

जब चेतना आती तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रपर न्योछावर कर देतीं—

सूरदास मनहरन मनोहर सर्बस दियौ छबीली री।

गृह, कालिन्दीतट, पनघट, गोष्ठ, वन, उपवन, वीथी, अलिन्द, मन्दिर—सर्वत्र आभीरसुन्दरियोंकी चर्चाका एकमात्र विषय था 'श्रीकृष्णचन्द्रका रुचिर कौमारचापल्य।' नीलमणिने मेरे घर ऐसी मनोहर लीला की, मेरे घर उसने इस रीतिसे माखन खाया, इस प्रकार अपने गृहमें घटित घटनाओंको भीड़-की-भीड़ एकत्र होकर परस्पर एक-दूसरीसे कहतीं, कहकर, सुनकर सुख-समुद्रमें डूब जातीं। एक कहती—बहिन! सुन, मेरे घरकी बात सुनाऊँ। उस समय प्रभात होने जा रहा था। दधिमन्थनके घर्घर शब्दसे समस्त व्रजपुर मुखरित था। इस घर्घर शब्दसे श्रीकृष्णचन्द्रकी निद्रा भङ्ग हो गयी। निद्रा टूटते ही व्रजरानीसे भी अलक्षित रहकर वे मेरे घर चले आये। मैं दधिमन्थन कर रही थी। मैंने देखा कि अत्यन्त मन्द-मन्द पादनिक्षेप करते हुए वे नवनीत-भंडारकी ओर जा रहे हैं। आनन्द-जड हुई मैं देखती रही। वे भीतर प्रविष्ट हो गये। वहाँ कई प्रदीप जल रहे थे। उन्हें भय हुआ कि दीपके उज्ज्वल प्रकाशमें मैं उन्हें देख लूँगी। अतः वे प्रत्येक दीपके समीप जाते, मुखारविन्दके सुरभित श्वाससे फूँक देकर दीपको बुझा देते। सभी दीप बुझाकर, निश्चिन्त होकर वे माखन खाने लगे। बहिन! उनकी दृष्टिमें अब उन्हें कोई देख नहीं रहा था, दीपक जो बुझ गया; किंतु मैं उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामज्योतिमें उनकी नवनीतभोजन-लीला निहार-निहारकर निहाल हो रही थी। ओह! उस समय झाँकीका वर्णन कैसे करूँ!

दधिमथननिनादैस्त्यक्तनिद्रः प्रभाते
निभृतपदमगारं वल्लवीनां प्रविष्टः।
मुखकमलसमीरैराशु निर्वाप्य दीपान्
कवलितनवनीतः पातु गोपालबालः॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

गोपसुन्दरीकी बात सुनकर दस-पाँच एक साथ पुकार उठतीं—'ओह, बहिन! बस, ठीक ऐसे ही नीलमणिने मुखकमलके मकरन्दस्रावी निःश्वाससे हमारे घर भी प्रदीप निर्वापित किये और बड़े अनुरागसे नवनीतका भोग लगाया।'

दूसरी कहती—'री! मेरे घर तो प्रभातके समय नहीं, संध्या होनेपर आये थे। निशाके काले अञ्चलसे व्रजपुर आवृत हो चुका था। उस समय यशोदानन्दन

मेरे घर पधारे। ओह! उनके श्याम कलेवरकी शोभा देखकर मैं तो ठगी-सी जहाँ थी, वहीं खड़ी रह गयी। मैंने देखा, वे द्वारपर आये हैं, भीतरकी ओर ही आये हैं। बस, बहिन! इतना ही देख सकी। फिर तो मेरे नेत्रोंमें श्याम रंग समा गया। पद्मरागका द्वार श्याम हो गया, देहली श्याम हो गयी, प्राङ्गण श्याम बन गया, गवाक्ष श्याम हो गये, स्तम्भ श्याम बन गये, मेरी साड़ी श्याम बन गयी, मेरे अङ्ग श्याम हो गये। निशाके तमने भी नवीन श्याम चादर ओढ़ ली। मैं एवं मेरे गेहका अणु-अणु श्याम हो गया। ऐसे श्यामवर्ण गेहमें यशोदानन्दन श्यामसुन्दर विलीन हो गये। भला, मैं फिर श्यामसुन्दरको कैसे ढूँढ़ पाती—

ग्वालिनि घर गए जानि साँझ की अँधेरी।
मंदिर में गए समाइ, स्यामल तनु लखि न जाइ,
देह गेह रूप कहौ को सकै निबेरी?

किंतु फिर मनमें आया—प्रदीप जलाकर उसके आलोकमें उन्हें ढूँढूँ तो सही कि वे कहाँ क्या कर रहे हैं। अतः प्रदीप लेकर गयी। देखा—नवनीत-भंडारमें वे विराजित हैं। विशाल वक्षःस्थलपर नवनीतबिंदु एवं दधिबिंदु झलझल कर रहे हैं। ओह! उस शोभाका क्या कहना। मानो कलिन्दनन्दिनीके जलमें तारावली प्रतिबिम्बित हो—

गोरस तन छाँटि रही, सोभा नहिं जाति कही,
मानौ जल-जमुन बिंब उडुगन पथ केरौ।

—बहिन! क्या बताऊँ, मैं तो उस रूपपर न्योछावर हो गयी—

सूरदास प्रभु कृपाल, डार्‌यौ तन फेरी।

तीसरी आभीरसुन्दरी अपना अनुभव सुनाती—"सखि! मेरी बात सुनो! मैं अपने गृहसे संलग्न उद्यानके द्वारपर खड़ी थी। कानोंमें 'रुनझुन-रुनझुन' की अत्यन्त मन्द ध्वनि सुन पड़ी। मैं दृष्टि उठाकर देखने लगी। देखती हूँ—यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्र सशङ्कित हुए मेरे घरकी ओर जा रहे हैं, रह-रहकर रुक जाते हैं, चारों ओर देखने लगते हैं। मैंने लताजालमें अपनेको छिपा लिया। वे द्वारपर जा पहुँचे। द्वारपर कोई न था, कपाट खुले थे, वे भीतर चले गये। मैं शीघ्र ही द्वारपर जा पहुँची, उनकी ताकमें बैठ गयी कि कब वे माखन खाकर बाहर निकलते हैं। तुरंत ही वे बाहर आये। किसलय-कोमल हथेलीपर उज्ज्वल नवनीत सुशोभित था। मैंने लपककर उनके हाथ पकड़ लिये तथा मुखचन्द्रकी ओर निहारने लगी। मैं कुछ बोलना चाहती थी; बहिन! पर बोल न सकी; उनका स्पर्श होते ही मेरे अङ्गोंमें कम्पन होने लगा था। इतनेमें उनके अरुण अधरोंपर मुसकान छा गयी; वे हँसकर बोले—'री! तू मैयाके सामने मुझे अपनी गोदमें लेकर प्यार करती थी; मैंने सोचा तेरे घर जाऊँगा, तेरा माखन खाऊँगा, तब तू मुझे और भी अधिक प्यार करेगी; इसीलिये तेरे घर माखन लेने आया हूँ।' ओह! उनके मधुमय कण्ठकी इस वाणीमें मानो कोई मोहनमन्त्र भरा था। बहिन! मैं तो वास्तवमें मोहित हो गयी। कुछ क्षण तो मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरे हृदयमें एक अनन्त पारावाररहित रससिन्धु है, उसमें नीलवर्ण तरङ्गें उठ रही हैं, प्रत्येक तरङ्ग मेरे प्राणोंमें समाकर कह रही है—'यह तो श्रीकृष्णचन्द्रका आवास है, यहाँ दूसरेका अधिकार नहीं।' मेरे नेत्र निमीलित हो गये। श्रीकृष्णचन्द्र चाहते तो इस बीचमें हाथ छुड़ाकर भाग जाते, पर वे ज्यों-के-त्यों मेरे हाथोंमें हाथ रखे खड़े रहे। अपना समस्त धैर्य बटोरकर मैंने आँखें खोलीं। देखा, वे अभी भी हँस रहे थे। अब कहीं यत्किञ्चित् बोलनेकी शक्ति मुझमें आयी। गद्गद कण्ठसे मैं बोली—'नीलमणि! मेरे प्राणधन! बैठ, मै तेरी बलैया लेती हूँ। मैं और भी सुमिष्ट दही ले आती हूँ, तू यथेच्छ भोग लगा।' यह कहकर मैं अपने नवनीतभंडारसे दधि एवं नवनीतकी मटुकी निकालकर बाहर रखने लगी। केवल दधि-नवनीत ही नहीं, बहिन! मैंने तो उसी क्षण अपना सर्वस्व लेकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रके भेंट चढ़ा दिया—

माई हौं तकि लागि रही।
जब घर तें माखन लै निकस्यौ, तब मैं बाहँ गही॥

तब हँसि कै मेरौ मुख चितयौ, मीठी बात कही।
रही ठगी, चेटक सौ लाग्यौ, परि गइ प्रीति सही॥
बैठौ कान्ह, जाउँ बलिहारी, ल्याऊँ और दही।
सूर स्याम पै ग्वालि सयानी सरबस दै निबही॥

चौथी एक अपने घरकी घटना बताने लगती—'अपराह्णका समय था, सखी! शीतल बयारका सुख लेती हुई मैं राजपथके उस पार अशोककी छायामें बैठी थी। इतनेमें देखती हूँ कि मेरे द्वारपर श्रीकृष्णचन्द्र आकर खड़े हुए—अत्यन्त शान्त एवं नीरव। फिर देखती हूँ—विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मिलिन्द आदि छोटे गोपशिशुओंका एक समुदाय आया; वे सब भी परम शान्त, मौन थे। इनके पश्चात् दाम, सुदाम, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंश आदिका एक दल आया; वह भी कोलाहलरहित। फिर सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल आदि आये; इनके अङ्गोंमें भी तिलमात्र चञ्चलता नहीं। अब आये मधुमङ्गल, पुष्पाङ्क एवं हंस आदि; इनमें भी चपलताका लेशतक नहीं था। सभी गृहतोरणके समीप आम्रकी शीतल छायामें एकत्र हो गये। इनकी मुखमुद्रा ऐसी थी, मानो राजपथसे ये सब कहीं खेलने जा रहे हों, श्रान्त होकर किञ्चित् विश्राम करनेके उद्देश्यसे रुक गये हों। देखते-ही-देखते मन्द-मन्द चलकर श्रीकृष्णचन्द्र मेरे भवनके अन्तर्भागकी ओर चले गये। गोपशिशु बाहर उसी प्रकार शान्त बैठे रहे। मैं अतिशय शीघ्रतापूर्वक, गोपशिशु मुझे देख न पायें—इस उद्देश्यसे अपने भवनसे कुछ दूर आगे चली गयी, फिर राजपथ पारकर अपने उद्यानमें चली आयी तथा पीछेके पथसे प्राङ्गणमें जा पहुँची। भवन सर्वथा सूना था। सभी हिंडोलेका आरम्भोत्सव देखने गये थे। केवल मैं ही अकेली थी, सो भी श्रीकृष्णचन्द्रकी जानमें तो मैं भी कहीं गयी हुई थी। अतः वे निस्संकोच भवनपर अधिकार कर चुके थे। अकेली रहनेके कारण आज मध्याह्नतक मैं दधि-मन्थन कर रही थी। सद्योमथित नवनीतसे पूर्ण भाण्ड अभी रखकर ही बाहर गयी थी। आकर देखती हूँ—नीलमणि उसी भाण्डसे ले-लेकर नवनीत भोजन कर रहे हैं। उन्होंने फिर संकेतसे समस्त सखाओंको भीतर बुला लिया, अपने हाथसे भर-भरकर दधि एवं नवनीत उनके हाथोंपर, उनके मुखोंमें रखने लगे। दधिबिंदु उनके वक्षःस्थलपर बिखरे हुए थे; शङ्कित भयभीत नेत्रोंसे वे बारम्बार इधर-उधर देख रहे थे, बीच-बीचमें किसी गोपशिशुकी ओट लेकर खड़े हो जाते, ग्रीवा टेढ़ी कर, नेत्रोंको कोयोंमें नचाकर सबको देखते तथा फिर नवनीत आरोगने लगते। ओह! सखी! क्या बताऊँ, उस ललित भङ्गिमापर मैं तो बिक गयी! छिपी हुई देख रही थी तथा श्रीकृष्णचन्द्र मुझे जान न लें, इसलिये अपनेको सँभाले हुए थी; अन्यथा मूर्च्छित होकर गिर पड़ती। हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी, आनन्दातिरेकवश हृदय दुर्-दुर् करता हुआ अत्यन्त वेगसे स्पन्दित होने लगा। ओह! उस समय नीलमणिके मुखचन्द्रकी वह शोभा, मुखारविन्दका वह सौन्दर्य—नेत्रोंने तो अवश्य दर्शन किये, पर उनमें तो वाक्शक्ति जो नहीं। वे बोलते होते तो मैं यत्किञ्चित् उस रूपमाधुरीकी बात तुम्हें सुनाती बहिन! वाणीके द्वारा वर्णन तो असम्भव है। इतना ही कह सकती हूँ कि मेरा मन उस रूपमें डूब गया, मैं चित्रलिखी-सी वहाँ खड़ी रह गयी—

आपु गए हरुऐं सूनें घर।
सखा सबै बाहिर ही छाँड़े, देख्यौ दधि-माखन हरि भीतर॥
तुरत मथ्यौ दधि-माखन पायौ, लै-लै खात, धरत अधरनि पर।
सैन देइ सब सखा बुलाए, तिनहिं देत भरि-भरि अपनैं कर॥
छिटकि रही दधि-बूँद हृदयपर, इत-उत चितवत करि मन में डर।
उठत ओट लै, लखत सबनि कौं, पुनि लै खात लेत ग्वालनि बर॥
अंतर भई ग्वालि यह देखति, मगन भई, अति डर आनँद भरि।
सूर स्याम मुख निरखि थकित भइ, कहत न बनै, रही मन दै हरि॥

इस तरुणीकी गाथा समाप्त होते-न-होते कई कहने लग जातीं—बस, बस, ठीक ऐसी ही झाँकी हमलोगोंने भी देखी है, सखी! ओह! हमें तो ऐसा प्रतीत होता था कि यह मानो श्रीकृष्णचन्द्रका नवनीत-भोजन नहीं, पद्म एवं चन्द्रका सम्मेलन है; ये श्रीकृष्णचन्द्रके कर नहीं, पद्म हैं; मुख नहीं, पूर्णचन्द्र

है; पद्मको अपने अनादिसिद्ध चन्द्रविरोधकी विस्मृति हो गयी है, वह नवनीतका उपहार लिये चन्द्रसे मिल रहा है तथा यशोदानन्दनके मरकत-श्याम अङ्गोंपर मुखसे टपकते नवनीतबिन्दु ऐसे सुशोभित थे, मानो प्रिय-समागमसे प्रफुल्लित चन्द्र नीले आकाशमें सुन्दर पीयूषकणोंकी वर्षा कर रहा हो—

सुंदर कर आसन समीप, अति राजत इहिं आकार।
जलरुह मनौ बैर बिधु सौं तजि, मिलत लए उपहार॥
गिरि-गिरि परत बदन तैं ढर पर हैं दधि-सुतके बिंदु।
मानहुँ सुभग सुधाकन बरषत प्रियजन आगम इंदु॥

इस भाँति गोपवधुएँ श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चामें तन्मय हो रही थीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने निराविल परमानन्दरसका दान उन्मुक्त हस्तसे कर रहे थे। एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी, परम मनोहर लीलाओंका प्रकाश करते हुए वात्सल्यरसका आस्वादन कर रहे थे। त्रितापदग्ध जगत्‌में उनकी ही आशा रखनेवाले संतजनोंके लिये अमृतपयस्विनी प्रवाहित कर रहे थे; उस पीयूषकल्लोलिनीके तटपर शंतम, सुखद, सुयश-तीर्थकी रचना कर रहे थे, जहाँ अवगाहन करनेसे—नहीं—नहीं, एक बार कर्णपुटकी अञ्जलि भरकर आचमनमात्र कर लेनेसे समस्त कर्मवासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, भवबन्धन सदाके लिये टूट जाता है—

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत्।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम्॥

(श्रीमद्भा० ९। २४। ६२)

श्रुतियाँ जिन अन्तर्यामीका संकेत करते हुए कहती हैं—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति × × ×।

'जो पृथ्वीमें स्थित हैं, पृथ्वीके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें पृथ्वी (पृथ्वीकी अधिष्ठातृ-देवता) नहीं जानती, पृथ्वी जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करते हैं।'

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयति × × ×। योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति × × ×। योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयति × × ×। यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयति × × ×। यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयति × × ×। य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति × × ×। यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयति × × ×। यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयति × × ×। य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयति × × ×। यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयति × × ×। यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयति × × × इत्यधिदैवम्.....।

'जो जलमें स्थित हैं, जलके अभ्यन्तर हैं, जल जिन्हें नहीं जानता, जल जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर जलका नियमन करते हैं; जो अग्निमें स्थित हैं, अग्निके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो अग्निका नियमन करते हैं; जो अन्तरिक्षमें स्थित हैं, अन्तरिक्षके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करते हैं; जो वायुमें स्थित हैं, वायुके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें वायु नहीं जानता, वायु जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो वायुका नियमन करते हैं; जो द्युलोकमें स्थित हैं, द्युलोकके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो द्युलोकका नियमन करते हैं; जो आदित्यमें स्थित हैं, आदित्यके

अभ्यन्तर हैं, जिन्हें आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो आदित्यका नियमन करते हैं; जो दिशाओंमें स्थित हैं, दिशाओंके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिनका शरीर हैं, जो भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करते हैं; जो चन्द्र एवं तारावलीमें स्थित हैं, चन्द्र-तारावलीके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें चन्द्र-तारावली नहीं जानती, चन्द्र-तारावली जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो चन्द्र-तारावलीका नियमन करते हैं; जो आकाशमें स्थित हैं, आकाशके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें आकाश नहीं जानता, आकाश जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर आकाशका नियमन करते हैं; जो तम (आवरणात्मक बाह्य तम)-में स्थित हैं, तमके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें तम नहीं जानता, तम जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर तमका नियमन करते हैं; जो तेज (तमसे विपरीत प्रकाशसामान्य)-में स्थित हैं, तेजके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें तेज नहीं जानता, तेज जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर तेजका नियमन करते हैं; इस प्रकार जो अधिदैवरूप हैं।'

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति × × × इत्यधिभूतम्।

जो समस्त भूतोंमें स्थित हैं, समस्त भूतोंके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिनके शरीर हैं, जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करते हैं—इस भाँति जो अधिभूतरूप हैं।'

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयति × × ×। यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयति × × ×। यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयति × × ×। यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो य ंश्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्र ं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयति × × ×। यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयति × × ×। यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयति × × ×। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति × × ×। यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो य ंरेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयति × × ×।*

'जो प्राण (प्राणवायुसहित घ्राणेन्द्रिय)-में स्थित हैं, प्राणके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें प्राण नहीं जानता, प्राण जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर प्राणका नियमन करते हैं; जो वाणीमें स्थित हैं, वाणीके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें वाणी नहीं जानती, वाणी जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर वाणीका नियमन करते हैं; जो नेत्रमें स्थित हैं, नेत्रके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर नेत्रका नियमन करते हैं; जो श्रोत्रमें स्थित हैं, श्रोत्रके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर श्रोत्रका नियमन करते हैं; जो मनमें स्थित हैं, मनके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें मन नहीं जानता, मन जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर मनका नियमन करते हैं; जो त्वक्में स्थित हैं, त्वक्के अभ्यन्तर हैं, जिन्हें त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर त्वक्का नियमन करते हैं; जो विज्ञान (बुद्धि)-में स्थित हैं, विज्ञानके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करते हैं; जो वीर्यमें स्थित हैं, वीर्यके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर वीर्यका नियमन करते हैं—इस प्रकार जो अध्यात्मरूप हैं।'

वे अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्मस्वरूप सर्वान्तर्यामी कौन हैं? व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही तो हैं! किंतु आज वे सर्वान्तर्यामी, सर्वनियामक श्रीकृष्णचन्द्र

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३। ७। ३-२३।

वात्सल्यरस-सुधापानकी उत्कट अभिलाषावश अपने बाल्यावेशके अन्तरालमें अपना अनन्त ऐश्वर्य, अपनी अशेष नियामकताको छिपाये हुए, भूले हुए व्रजपुरकी विमल वसुंधरापर विचरण कर रहे हैं। जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्र, तारिकाएँ, आकाश, तम, तेज—इनमें अधिष्ठित देव, इन्हें अपने नेत्रोंसे निहारकर कृतार्थ हो रहे हैं। व्रजपुरमें ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त समस्त भूत उनका प्रत्यक्ष दर्शन कर धन्य-धन्य हो रहे हैं। आज श्रीकृष्णचन्द्र मानो अपने घ्राणके नियामक नहीं, घ्राण उनका नियमन कर रहा है; किसी भी गोपसुन्दरीके भवनमें नवनीतका सुवास पाते ही वे खिंचकर चले जाते हैं। आज श्रीकृष्णचन्द्र अपने नेत्रके नियन्ता नहीं रहे, नेत्र उनका नियमन कर रहा है, किसी भी आभीरसुन्दरीके घर दधि-दूध-नवनीत देखकर वे चुरानेके उद्देश्यसे चल पड़ते हैं। उनके श्रोत्र आज उनका नियन्त्रण कर रहे हैं, दधि-मन्थनकी ध्वनि कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते ही वे उस ओर भाग छूटते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके चित्तमें आज स्फुरणाओंका तार लगा है—अभी उस व्रजसुन्दरीके घर जाना है, फिर उसके घर, फिर उसके; आज चित्तके नियामक वे नहीं, चित्त उन्हें नियन्त्रित कर रहा है। किसी भी गोपसुन्दरीका स्पर्श पाते ही अधिकाधिक स्पर्शसुखके लिये वे व्याकुल हो उठते हैं; एक गृहसे दूसरे गृहमें इसीके लिये तो दौड़ रहे हैं, त्वक् उनका नियमन जो कर रहा है। बुद्धि श्रीकृष्णचन्द्रसे कहती है—यशोदानन्दन! ध्रुव सत्य है, प्रत्येक आभीरसुन्दरी तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी है, दधि-दुग्ध-नवनीतकी तो बात ही क्या; तथा श्रीकृष्णचन्द्र इस बुद्धिसे परिचालित होकर आभीरसुन्दरीके भवनमें मनमानी क्रीड़ा कर रहे हैं। भीतर अवस्थित रहकर आनन्द-वितरण करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र आज स्वयं रसवश हुए आनन्दोपभोगके लिये चञ्चल हो रहे हैं। आज वे सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र अदृश्य नहीं, आज तो वे अपने इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंकी शीतल किरणोंसे पुरवीथीको उद्भासित, नवजलधर-कान्तिसे सिक्त, परमदिव्य सुरभिसे सुरभित करते हुए व्रजमें विचर रहे हैं। आभीरसुन्दरियोंके घर अपने परम रमणीय बाल्यचापल्यका प्रकाश कर, उनके दधि-दुग्ध-नवनीत, गोरसपात्र, गो, गोवत्स, गोपशिशुओंसे विविध क्रीड़ा कर परमानन्दका अनुभव कर रहे हैं। उनकी मधुर चञ्चल चेष्टाओंका दर्शन करके आभीरसुन्दरियाँ भी आनन्दविवश हो जा रही हैं। उनका आनन्दवर्धन करनेके लिये वे कभी उन्हें रोकना भी चाहती हैं, तो बोल नहीं पातीं, आनन्दसे कण्ठ सर्वथा रुद्ध हो जाता है—

बाल-बिनोद बिलोकि सूर प्रभु सिथिल भईं ब्रजनारि।
फुरै न बचन बरजिबे कारन, रहीं बिचारि-बिचारि॥

किंतु व्रजसुन्दरियोंके मनमें अब एक बात आयी—'श्रीकृष्णचन्द्रकी इन चञ्चल चेष्टाओंका आस्वादन हम सबोंको तो प्राप्त हो रहा है, हम सभी आनन्दमें डूब-उतरा रही हैं; पर व्रजरानी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहीं! नीलमणि अपने गृहमें तो चञ्चलता करते नहीं।' बस, यह विचार उदय होते ही उन सबने मन-ही-मन कार्यक्रम स्थिर कर लिया—उलाहनेका मिस लेकर हम सब जायँ एवं नीलमणिकी प्रत्येक चेष्टाका वर्णन कर व्रजरानीको भी परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर दें। हृदयकी यह भावना मूर्त होने चली, गोपसुन्दरियाँ परस्पर एक-दूसरेको परामर्श देने लगीं—

गोपालहि माखन खान दै।
सुनि री सखी, मौन ह्वै रहिऐ, बदन दही लपटान दै॥
गहि बहियाँ हौं लैकै जैहौं, नैननि तपति बुझान दै।
याकौ जाइ चौगुनौ लैहौं, मोहि जसुमति लौं जान दै॥
तू जानति हरि कछू न जानत, सुनत मनोहर कान दै।
सूर स्याम ग्वालिनि बस कीन्हौ, राखति तन-मन-प्रान दै॥

उपालम्भ-लीला

व्रजेश्वरी दधिमन्थन कर रही हैं। उस दधिमन्थनकी ध्वनिमें अपनी कटिकिङ्किणी एवं पदनूपुरोंका स्वर मिलाकर नीलमणि नृत्य कर रहे हैं। आकाशपथमें सुरगण, सुरबालाएँ नीलमणिको निहारकर आनन्दसे बेसुध होती जा रही हैं। गोष्ठसे दुग्धकलश लानेवाले गोप श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे प्रसरित शत-सहस्र सौन्दर्यमन्दाकिनीकी धाराओंमें अवगाहनकर अतिशय चञ्चल हो रहे हैं, दुग्धपूरित कलशोंको वे यथास्थान रख नहीं पा रहे हैं, उनके हाथ एवं अङ्ग काँप जो रहे हैं। इसीलिये कितने कलसे ढरक गये, दूधकी धाराएँ बहने लगी हैं; पर उन्हें इसका भी भान नहीं, उनके नेत्र तो नाचते हुए नन्दनन्दनमें डूब रहे हैं। तथा व्रजरानीके आनन्दका तो कहना ही क्या है, मन-ही-मन वे अपने नीलमणिके इस मनोहर नृत्यपर कोटि-कोटि प्राणोंको न्योछावर कर दे रही हैं—

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै, ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ री।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री॥
कंचन कौ कदुला मनि-मोतिनि, बिच बिच दही रह्यौ पोइ री।
देखत बनै, कहत नहिं आवै, उपमा कौं नहिं कोइ री॥
निरखि-निरखि मुख नंद-सुवन कौ, सुर-बर आनँद होइ री।
सूर भवन कौ तिमिर नसायौ, बलि गइ जननि जसोइ री॥

दधिमन्थन समाप्त हुआ। किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके नृत्यका विराम नहीं हुआ। उसी आवेशमें वे नाचते ही रहे। व्रजरानी अपने हाथमें धवल नवनीतका एक पुष्ट खण्ड उठा लेती हैं। नीलमणिको देने चलती हैं, किंतु मुड़ते ही मणिस्तम्भमें नाचते हुए श्रीकृष्णचन्द्रका प्रतिबिम्ब जननीको दीख पड़ता है। वे रुक जाती हैं तथा उसी ओर देखने लगती हैं। प्रतिबिम्ब है या वास्तवमें नीलमणि—जननी यह निर्णय नहीं कर पातीं; क्योंकि उनकी श्रीकृष्णपूरित दृष्टिमें मणिस्तम्भका अस्तित्व ही जो विलीन हो गया है। एक क्षण वे असली नीलमणिकी ओर देखती हैं, दूसरे क्षण प्रतिबिम्बकी ओर। दोनोंमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं पातीं। एक-सा नर्तन है, एक-सा सौन्दर्य। प्रेम-भ्रान्त यशोदारानी प्रतिबिम्बको ही साक्षात् नीलमणि मानने लगती हैं। पर इतनेमें ही पुनः कुछ दूरपर नृत्यशील असली नीलमणि उन्हें दीख जाते हैं। अब 'नीलमणि क्या दो हैं?'—व्रजेशगेहिनी इस विचारमें पड़ जाती हैं। रसस्रोतमें डूबते-उतराते रहनेके कारण पहलेसे ही चञ्चल हुआ उनका चित्त और भी चञ्चल हो उठता है। रसकी प्रबल लहरोंसे बुद्धि भी ढक जाती है। व्रजरानी अन्तमें इसी निश्चयपर पहुँचती हैं कि नीलमणि एक नहीं, दो हैं; तथा दोनोंको समानरूपसे देनेके लिये वे नवनीतपिण्डके दो भाग कर लेती हैं—

नृत्यन्तमत्यन्तविलोकनीयं कृष्णं मणिस्तम्भगतं मृगाक्षी।
निरीक्ष्य साक्षादिव कृष्णमग्रे द्विधा वितेने नवनीतमेकम्॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

इसी बीचमें उलाहनेका मिस लेकर कुछ गोपसुन्दरियाँ आ गयी थीं। उन सबने भी श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य देखा तथा फिर देखा—यशोदारानीका यह प्रेम-विभ्रम। नवनीतको विभाजितकर वाम हस्तका भाग प्रतिबिम्बकी ओर एवं दक्षिणके भागको श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर करके जब वे दोनोंसे माखन उठा लेनेका संकेत करने लगीं, तब उन गोपसुन्दरियोंकी भी दशा विचित्र हो गयी। उनका प्रेम उमड़ा तथा वे भी भ्रान्त हो गयीं। किस उद्देश्यको लेकर आयी हैं, इसकी विस्मृति तो हो ही गयी। साथ ही उनकी दृष्टिमें तो दो नहीं, शतसहस्र श्रीकृष्णचन्द्र भर गये। नन्दभवन, नन्दप्राङ्गण, स्तम्भ, वेष्टन, यशोदा, गोपी-गोप—ये सब उनके सामनेसे विलुप्त हो गये; बच रहे—केवल नृत्यपरायण अगणित श्रीकृष्णचन्द्र। उनका यह आवेश जब शिथिल हुआ, तब उन्होंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलनेके लिये बाहर चले गये हैं एवं यशोदारानी विनीतस्वरमें उनका स्वागत करके कह रही हैं—'बहिनो! बैठ जाओ।

खड़ी क्यों हो! तुम सब आयी थीं; पर मैं तो आज ऐसी भ्रान्त हुई कि क्या बताऊँ। जब नीलमणि हँसने लगा, तब कहीं मुझे चेत हुआ। मुझे पतातक नहीं चला, बहिन, कि तुम सब कितनी देरसे खड़ी हो.....।' गोपसुन्दरियाँ, मानो सब-की-सब विक्षिप्त हों, ऐसी मुद्रा धारण किये कुछ देर तो खड़ी रहीं तथा फिर बिना कुछ कहे ही एक-एक कर लौट गयीं। यशोदारानी आश्चर्यमें डूबी इनकी ओर देखती रह गयीं।

कल भी एक गोपी उलाहना देने आयी थी। श्रीकृष्णचन्द्रने उसकी गोशालामें जाकर दुहनेके समयसे पूर्व ही बछड़ोंके बन्धन खोल दिये थे, गोवत्स सारा दूध पी गये थे। उसीका मिस लेकर प्रभात होते-न-होते वह यशोदारानीके समीप आयी थी। व्रजरानीने इतना सबेरे आनेका कारण पूछा। वह बताने चली कि बस, उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र शयनागारसे उठकर वहाँ आ गये। फिर तो ग्वालिन उस मुखकमलकी शोभामें ऐसी फँसी कि सब भूल गयी—

भूली री उराहने कौ दैबौ।
थकि गए दृष्टि स्यामघन सुंदर चकित भई चितवौ॥
चित्र लिखी-सी ठाढ़ी ग्वालिन, को समुझै समुझैबौ।
चतुरभुज प्रभु गिरिधर मुख निरखत कठिन भयौ घर जैबौ॥

नन्दरानीको कुछ भी बताये बिना ही वह 'गुन्-गुन्' करती हुई लौट गयी। उसकी दशा देखकर व्रजरानी कलसे ही विस्मय कर रही थीं। अस्तु,

इस प्रकार दो दिन उपक्रम होकर भी उलाहनेकी लीला स्थगित रही। अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी इच्छासे ही ऐसा हुआ। क्षणभरमें सारे व्रजपुरमें यह समाचार फैल गया कि कोई भी गोपी उलाहना देनेमें सफल नहीं हुई। यशोदारानीके समक्ष श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंका वर्णन कर कोई भी उन्हें परमानन्दका उपहार समर्पित न कर सकी। जो गयी, वही श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर सुध-बुध खो बैठी। अतः संध्याके समय यह स्थिर हुआ—व्रजसुन्दरियोंने गोष्ठमें एकत्र होकर यह निश्चय कर लिया कि 'कल प्रातःकाल उलाहनेका मिस लेकर हम सभी एक साथ नन्दभवनमें चलें, वहाँ दिनभर रहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुर चर्चाका आनन्द व्रजरानीको दें। जिसके यहाँ श्रीकृष्णचन्द्रने जिस बाल्यमाधुरीका प्रकाश किया है, उसका वर्णन वह नन्दरानीके सामने उपालम्भके रूपमें करे तथा हमारे परम सौभाग्यसे यदि उस समय श्रीकृष्णचन्द्रके पद्मविनिन्दित, चञ्चल नयनोंमें किञ्चित् भयकी छाया पड़ जाय तो उस अभूतपूर्व सौन्दर्यका पानकर हम सभी निहाल हो जायँ।' यह निश्चय लेकर गोपसुन्दरियाँ अपने-अपने घरको लौटीं। लीलाशक्तिका उद्देश्य पूर्ण होने चला। एक साथ वात्सल्यवती समस्त पुरसुन्दरियोंको नन्दभवनमें एकत्र करनेके लिये ही तो उन्होंने दो दिन उपालम्भका अभिनय होने नहीं दिया है। अधिकाधिक रस-पानके लिये आकुल व्रजपुरन्ध्रियोंको श्रीकृष्णचन्द्रके विविध कौमारचापल्यकी रसतरङ्गिणीमें निमज्जित कर देनेके लिये ही तो सोलह पहरका विलम्ब हुआ है। जो हो, निशा आयी एवं निशाका अवसान भी हुआ। किंतु गोपसुन्दरियाँ तो सारी रात जागती ही रहीं। उन्हें निद्रा आयी ही नहीं। यदि किसीको क्षणभरके लिये तन्द्रा-सी हुई तो उसने केवलमात्र उलाहनेका ही स्वप्न देखा। प्रातःसमीरका स्पर्श पाते ही सब उठ खड़ी हुईं। आवश्यक कर्मसे निवृत्त हो, विविध मनोहर शृङ्गारसे सज्जित होकर, दिनभरके लिये गृहका सारा भार गृहस्वामीपर सौंपकर दल-की-दल नन्दप्रासादकी ओर चल पड़ीं।

इधर व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये स्वर्ण-सिंहासनपर विराजित हैं। कलेवा करके श्रीकृष्णचन्द्र आज खेलने बाहर नहीं गये। जननीके अङ्कमें उठकर उनसे मेवा खिला देनेके लिये कहने लगे। जननीके आनन्दका पार नहीं, नीलमणिने अबतक कभी ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की थी। जननीको शतशः मनुहारोंपर कभी वे एक-दो दाना मुखमें लेते थे। साथ ही यह दशा थी कि मृगशावकको निरुद्ध कर लेना सहज है,

पर कलेवाके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र रुक जायँ—यह सम्भव नहीं। अतः आजकी चेष्टा तो जननीको परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर देती है। सुवर्णथालमें विविध मेवा सजाकर वे बैठ जाती हैं तथा नीलमणिके मुखचन्द्रकी शोभा निहारती हुई उन्हें खिलाने लगती हैं। नीलमणि कुछ खाते हैं, कुछ जननीके आँचलपर बिखेर देते हैं। इस प्रकार मानो लीलाशक्तिने पुरसुन्दरियोंके लिये पहलेसे ही उपयुक्त रङ्गमञ्चकी रचना कर रखी है। क्रमशः दल-की-दल वे एकत्र होने लगती हैं। देखते-ही-देखते नन्दप्राङ्गण भर जाता है। उनके आभूषणोंकी झनकारसे नन्दप्रासाद मुखरित होने लगता है। व्रजरानी परम उल्लाससे सबका स्वागत तो अवश्य कर रही हैं, पर उन्हें अत्यन्त विस्मय है कि सर्वथा अनिमन्त्रित इतनी गोप-सुन्दरियाँ अचानक इस समय कैसे एकत्र हुईं! गोप-सुन्दरियोंके लिये एक आश्चर्यकी बात यह हुई है कि प्रत्येकको यह अनुभव हो रहा है कि मैं नन्दरानीके अत्यन्त समीप बैठी हूँ।

यथायोग्य पहले सबका क्षेमकुशल पूछकर नन्दरानीने फिर आनेका कारण पूछा तथा एक गोपसुन्दरी व्रजेशमहिषीको परमानन्द-दानके अभिनयमें मानो मङ्गलाचरण करने उठी। वह बोली—

अयि व्रजराजभाविनि भाविनितानन्दुरन्तभावोऽयं तव कुमारः। यदयं द्विपत्र एवाधुना धुनान इव भुवनमवलमानसम्पल्लीलोऽपि पल्लीलोऽपि चरितमभ्यस्यति स्थित्वा वा किं विधास्यति?

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजरानी! क्या बताऊँ? तुम्हारे नीलमणिका तो अभी कुमारवयस् है। पर भविष्यमें यह अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभावका होता दीखता है। भला, देखो! अभी तो यह एक छोटा पौधा-सा है, जो अभी-अभी अङ्कुरित हुआ है। उसमें केवल दो पत्ते लगे हैं। पर अभी ही यह दशा है कि यह सम्पूर्ण भुवनको कम्पित कर दे रहा है। अभी इसकी शक्तियाँ विकसित नहीं हुई हैं, फिर भी यह सम्पूर्ण व्रजपुरको नष्ट-भ्रष्ट कर देनेकी सामर्थ्य रखता है। आजकल तो यह ऐसी ही चेष्टाओंका अभ्यास कर रहा है। जब इस समय ही यह अवस्था है, तब जिस समय यह पौधा विशाल शाखा-पत्र-पुष्प-फलसमन्वित वृक्षके रूपमें परिणत होगा—तुम्हारा नीलमणि यौवनमें प्रवेश करेगा—उस समय यह क्या करेगा? व्रजपुरकी कैसी दशा कर देगा?'

यह कहकर गोपसुन्दरी मौन हो गयी। इससे अधिक कहनेकी सामर्थ्य जो उसमें नहीं थी। वह देख तो रही थी यशोदारानीके अङ्कमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर तथा ज्यों-ज्यों देखती, त्यों-ही-त्यों उसका हृदय उल्लाससे भरता जाता था। कठिनतासे हँसी रोक पा रही थी। पर यदि हँस देती तो उपालम्भकी मुद्रा नष्ट हो जाती। सारा खेल ही बिगड़ जाता। इसलिये इतना कहकर ही वह चुप हो गयी।

यशोदारानी हँसकर बोलीं—'बहिन! तू तो कविता सुनाने लगी, बात तो बता कि नीलमणिने किया क्या है।' किंतु गोपसुन्दरी सिर नीचा किये बैठी रही, उसके लिये हँसी रोकना असम्भव-सा हो रहा था। सिर उठाती तो सारी गम्भीरता नष्ट हो जाती। उसकी यह दशा देखकर एक दूसरी बीचमें ही बोल उठी—'नन्दरानी! मुझसे सुनो, मैं बताती हूँ; देखो, नीलमणि अत्यन्त नटखट हो गया है। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि अब व्रजपुरके कितने ही घरोंमें गोदोहन नहीं होता। गायोंके थनोंमें दूध बचे, तब तो गोदोहन हो। यह नीलमणि गोदोहनसे पूर्व ही गोष्ठमें जा पहुँचता है—अकेला नहीं, शत-सहस्र बालकोंको साथ लिये। हम सब जान भी नहीं पातीं कि कब कैसे पहुँच गया। वहाँ जाकर जितने बछड़े होते हैं, सबकी रस्सी खोल देता है। समाचार पाकर हम सब दौड़ती हैं, हमारे परिवारके गोप दौड़ते हैं; किंतु तबतक तो बछड़े दूध पी चुके होते हैं; क्योंकि हमारे पहुँचनेमें विलम्ब हो जाता है। यह तो ठीक अवसर देखकर ही ऐसा करता है। जब हम सब किसी अन्य कार्यमें अत्यन्त व्यस्त

रहती हैं, यह जान लेता है कि हम सब तुरंत वहाँ जा नहीं पायँगी, तभी ऐसी चेष्टा करता है। वहाँ इसे देखकर हम इसपर क्रोध करती हैं, पर हमारे क्रोध करनेपर यह हँस देता है। व्रजरानी! इसकी हँसीमें कुछ ऐसी मोहिनी है कि हमारा क्रोध भी शान्त हो जाता है, हम सब भी हँस पड़ती हैं—

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

अदुग्धदुग्धेषु गवां गणेषु निपाययत्येष विमुच्य वत्सान्।
सम्भूय भूयः क्रियते यदा वा रोषस्तदा लुम्पति तं स्मितेन॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेश्वरी इस व्रजपुरन्ध्रीकी बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके मन्दस्मितसमन्वित मुखारविन्दकी ओर देखने लगती हैं तथा फिर हास्यमिश्रित वाणीमें ही उससे पूछती हैं—'री! अच्छा, यह बता—ऐसा यह किसलिये करता है, ऐसा करनेमें कुछ हेतु तो होगा ही?' व्रजरानीके इस प्रश्नका उत्तर एक दूसरी गोपी देती है। उसने कहा—'नन्दरानी! व्रज तो तुम्हारा राज्य है, तुम मालकिन हो; नीलमणि तुम्हारा पुत्र है, हम सब भी इसे किस दृष्टिसे देखती हैं—तुम जानती हो। अतः मैं इसका दोष बताऊँ तो तुम रुष्ट मत होना। देखो, यह हमारे घरके सुस्वादु नवनीत, दुग्ध, दधि आदि अपहरणकर खानेके लिये ही ऐसा करता है। स्वाभाविक ही हम सब बछड़ोंको बाँधनेके लिये चली जाती हैं, हमारा गृह जनशून्य हो जाता है; उस समय नीलमणि हमारे घरमें प्रवेशकर दधि, दुग्ध, नवनीत आदि जितनी वस्तुएँ रहती हैं, उनको लेकर सखाओंके साथ भोजन करता है। व्रजराजमहिषी! क्षमा करना। नीलमणि वस्तु अपहरण करनेकी अनेकों युक्तियाँ जानता है। सर्वथा अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व अपहरणकलाका प्रकाश कर यह हमारे घर मनमानी करता है। चौर्यकलाका तो यह आचार्य बन गया है—

स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

स्तेयोपाये गुरुरयमखिले। (श्रीगोपालचम्पूः)

व्रजरानी विनोदके भावसे हँसती हुई बोलीं—'बहिन! तू है कृपणा; तूने मेरे नीलमणिको स्वयं जब नहीं दिया होगा तो शिशुस्वभाववश इसने तेरे घर छिपकर खा लिया होगा।' यह सुनते ही कई गोपियाँ एक साथ बोल उठीं—"नन्दरानी! जब कभी भी नीलमणि हमारे द्वारपर जाता है, हम सब न जाने कितना आग्रह करती हैं कि 'मेरे लाल! किञ्चित् नवनीत तू आरोग ले।' पर उस समय तो यह कहता है कि री! क्या मेरे घर नवनीत नहीं है, जो तेरे घरका खाऊँ? व्रजेश्वरी! सच बात तो यह है कि प्रकटमें दी हुई वस्तु इसे नहीं भाती, इसे तो छिपकर लेना भाता है।"

इस बार व्रजरानी खिलखिलाकर हँस पड़ीं तथा अङ्कमें विराजित नीलमणिके कपोलोंपर घन-घन चुम्बन अङ्कित करने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्रने वङ्किम चितवनसे गोपसुन्दरियोंकी ओर देखा एवं फिर देखा जननीकी ओर। मानो दोनोंके हृदयको वे परख रहे हों। अब आगे गोपसुन्दरियाँ क्या कहेंगी, अबतक जननीपर इस उलाहनेका क्या प्रभाव हुआ—इसकी परीक्षा कर रहे हों। जननीके मनोगत भावोंका किञ्चित् परिचय तो कपोल-चुम्बनने दे ही दिया था, अब और भी स्पष्ट हो गया; क्योंकि पुत्रको लाड़ लड़ाकर नन्दरानी बोलीं—'बहिन! नीलमणि जैसे मेरा है, वैसे ही तुम्हारा है। नवनीत ही तो उसने खाया है, तुम सबोंके घरोंमें तो नवनीतके भाण्ड भरे हैं।' व्रजरानीका यह कहना था कि कुछ गोप-सुन्दरियाँ हाथ नचाकर उच्चस्वरसे बोल उठीं—"गोपेन्द्रगेहिनी! बात इतनेतक ही सीमित नहीं है। नीलमणि स्वयं जितना खा सके, खा ले; अपने सखाओंको जितना वितरण कर सके, कर दे। पर यह स्वयं तो बहुत अल्पमात्रामें खाता है, शेष सब वानरोंको लुटा देता है। कदाचित् तुम देख पातीं तो समझतीं कि यह कितना उत्पात करता है। यह जिस ओर जाता है, उसी ओर सहस्रों वानर इसके

पीछे-पीछे चलते हैं। यह किसी भी घरमें एकान्त पाकर प्रवेश कर जाता है तथा गोरसपूर्ण मटकोंसे माखन, दूध, दही निकाल-निकालकर वानरोंको देना आरम्भ कर देता है। वानर शिशु है या प्रौढ़, इस ओर इसका ध्यान नहीं; यह तो सबको समान भावसे देता है तथा जब वानर खाते-खाते अघा जाते हैं, खानेसे उपरत हो जाते हैं, तब यह कहता है—'भैयाओ! देखो, इस गोपसुन्दरीके गृहके नवनीत, दधि आदि स्वादु नहीं; वानर भी नहीं खा रहे हैं; यह फूहरी है, यह माखन बिलोना नहीं जानती, इसे दही जमाना नहीं आता। ऐसे स्वादरहित माखन-दहीसे क्या प्रयोजन।' तथा यह कहकर गृहमें जितने नवनीत-दधि-दुग्ध-भाण्ड—हमारी ददिया सास, परददिया सासके समयके, बड़े यत्नसे सुरक्षित रखे हुए—उसे मिलते हैं, सबको फोड़ डालता है; नवनीत-दधि-दुग्धकी धारा बह चलती है—

मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नास्ति भाण्डं भिनत्ति।

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

हेलालसं तत् किमदेव भुङ्क्ते शाखामृगान् भोजयते प्रकामम्।
न भुञ्जते ते यदि तृप्तिमन्तो भूमौ किरत्येव विभिद्य भाण्डम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इनकी बात सुनकर व्रजरानी तो हँसीं ही, उलाहनेके मिससे आयी हुई स्वयं अधिकांश गोपसुन्दरियाँ भी हँस पड़ीं।

वात्सल्यरस-घनमूर्ति व्रजेश्वरी नहीं जानतीं, वात्सल्य-भावितमति गोपसुन्दरियोंको पता नहीं, कि जिन रघुकुल-तिलक राघवेन्द्रकी कथा वे सुनती हैं, कभी गा-गाकर अपने कोटि-कोटि प्राणप्रियतम नीलमणिको भी सुनाती हैं, वे दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एवं गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र दो नहीं हैं। क्या पता, व्रजराजनन्दनके हृदयमें त्रेताकी वह स्मृति जाग उठी हो; सुग्रीव-सम्मेलन, वानरी सेनाका आवाहन, उदधिके वक्षःस्थलपर सेतुबन्धन, कनकपुरीका भीषण रणाङ्गण, इन सबके अमिट संस्मरण उदय हो आये हों? यशोदानन्दन कदाचित् यह सोच रहे हों—आह! उस दिनकी बात! मेरा तपस्वी वेश था, परिग्रहका अत्यन्त अभाव था, प्रियावियोगसे व्यथित प्राण हाहाकार कर रहे थे, सुग्रीव न होते तो सेना एकत्र करनेका साधन ही मेरे पास क्या था? सुग्रीवकी ही सेना मेरी सेनाके रूपमें परिणत हो गयी। प्रत्येक वानर मेरा सैनिक था। ओह! उस दिन इस सेनाके किसी भी सैनिकने मुझसे पारिश्रमिककी याचना नहीं की; और तो क्या, उनकी उदरपूर्तिकी व्यवस्था भी मुझसे नहीं हो सकी थी। वे स्वयं ही वन्य फलोंको संचय करते थे, उन वनफलोंसे अपने उदरकी ज्वाला शान्त करते थे तथा मुझ वनवासीकी भी सेवा करते थे। इनकी सेवा हेतुरहित थी, सर्वथा निर्दोष, निष्कपट थी। इनके मनमें कभी कोई कल्पनातक नहीं उदय हुई कि मैं इन्हें कभी कुछ दूँगा। अनन्त उपकार इन्होंने किये थे, मैं उन उपकारोंको कैसे भूल जाऊँ। उनसे उऋण तो कभी होऊँगा ही नहीं। पर आज कम-से-कम सैनिकका पारिश्रमिक, वेतन तो इन्हें दूँ; अपने हाथोंसे अपनी प्रिय भोज्यवस्तु नवनीत-दही-दूध खिलाकर इनकी उदरपूर्ति तो कर दूँ!—यह सोचकर ही कदाचित् स्वयं भगवान् अच्युत व्रजराजनन्दन इन वानरोंको दधि-दुग्ध आदिके मिससे वेतन दे रहे हों तो क्या पता—

वन्यैरेव फलैः स्वयञ्चकलितैराकल्प्य वृत्तिं निजां
सेवा मे वनवासिनोऽपि विहिता प्रागेभिरव्याजतः।
इत्थं तत्प्लवगोपकारनिकरानालोचयन्नच्युतः
प्रादाद्वेतनमेव किं दधिपयोव्याजात् स तेभ्यस्तदा॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

कुछ भी हो, गोपसुन्दरियोंने अपने उलाहनेमें वानरोंका प्रसङ्ग लाकर सबको आनन्दमें विभोर कर दिया। बड़ी देरतक सभी हँसती रहीं। व्रजरानी किसी तरह आत्मसंवरण कर बोलीं—"री! तब तू छिपाकर नवनीत आदि क्यों नहीं रखती? गृहके अन्तर्भागमें रखकर द्वार बंद कर दे, फिर यह कैसे ले सकेगा?" गोपसुन्दरियोंके एक दलने इसका उत्तर भी व्रजेश्वरीको

दे ही दिया। वे बोलीं—"यशोदारानी! यह भी हो चुका है, पर इसका परिणाम तो और भी भयंकर हुआ! तुम्हारा नीलमणि हम सबोंके घर गया था; कोई भी वस्तु इसे नहीं मिली कि जो यह नष्ट कर सके। फिर तो यह इतना क्रोधित हुआ कि क्या बताऊँ! हमसे कहने लगा—'री, ठहर जा! कलसे मैं एक प्रज्वलित अङ्गार साथ लेता आऊँगा; जहाँ दही, दूध, नवनीत आदि कुछ भी नहीं पाऊँगा, उस घरमें वह अङ्गार रख दूँगा; गृह ही भस्म हो जायगा। जिस गृहमें मेरे लिये कुछ नहीं, उसे तो ध्वंस ही हो जाना चाहिये। उस घरके बालकोंको भी ऐसी मार मारूँगा कि गृहस्वामिनी भी स्मरण करेगी।' इस प्रकार कहकर प्रमाणके रूपमें पर्यङ्कशायी छोटे शिशुओंकी चिकोटी काटकर, रुलाकर भाग गया—

द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

दूरे स्थितो गर्जति तिष्ठ तिष्ठ भो दग्ध्वा गृहं ताडयितास्मि बालकान्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

"नन्दगेहिनी! तबसे हम सब इससे डरकर अवश्य इसके लिये कुछ-न-कुछ बाहर रख देती हैं। यह आता है, हँसकर कुछ खा लेता है, कुछ फेंक देता है।"

इतनेमें एक गोपतरुणी बोल उठी—व्रजराज-महिषी! एक दिन किसीने इसे कह दिया—रे नन्दनन्दन! तू तो चोर है। बस, यह कहना था कि तुम्हारे इस चञ्चल नीलमणिके अरुण पङ्कजनेत्रोंमें रोष भर गया तथा यह कहने लगा—री! मैं चोर नहीं, तू चोर है। यह घर मेरा है। इसलिये इस घरकी समस्त वस्तुएँ मेरी हैं। मेरी वस्तुको तू अपनी मानती है। वास्तवमें तो तू चोर है—

चोर एष इति केनचिदुक्तः क्रुद्ध एव निगदत्यतिधृष्टः।
त्वं हि चोर इदमेव मदीयं गेहमस्य सकलं हि ममैव॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

यशोदारानीके मुखपर मन्द मुसकान छा जाती है। एक बार वे पुनः श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखती हैं तथा फिर समस्त गोपसुन्दरियोंको लक्ष्य करके कहती हैं—'बहिनो! तुम सब मुझे विस्तारसे सुनाओ कि किसके घर मेरे नीलमणिने क्या किया है।' तब क्रमशः गोपसुन्दरियाँ अपना-अपना विवरण सुनाती हैं। प्रत्येकके लिये व्रजरानी 'अच्छा, ऐसे न रखकर ऐसे रखा करो तो' इस प्रकार कहकर कोई-न-कोई उपक्रम बना देती हैं तथा उसीके उत्तरमें क्रमशः गोपसुन्दरियाँ अपने-अपने घरका विवरण सुनाती हैं। एक बोली—'व्रजराज-भामिनी! ऊँचे छीकेपर रखे रहनेके कारण जब इसके हाथ नहीं पहुँचते तो यह पीढ़े या उलूखल आदिकी सहायतासे वहाँ पहुँच जाता है। मेरे घरकी बात है। जब इसने देखा कि हाथ नहीं पहुँचते तब इसने एक पीढ़ा रखा, फिर उस पीढ़ेपर एक-दूसरे पीढ़ेको स्थिर किया और उसपर एक और पीढ़ेकी स्थापना की। उस तीसरे पीढ़ेपर चढ़कर इसने हाथ उठाये। एक हाथसे नवनीत आदिका अपहरण करने लगा। इतनेमें मैं कई सखियोंके साथ वहाँ जा पहुँची। हम सबोंने निषेध किया। बस, छीकेपर दधि-दुग्धके जितने पात्र थे, सब-के-सब उसने पृथ्वीपर पटक दिये। मेरे ही घर नहीं, कई घरोंमें प्रायः यह ऐसा ही करता है—

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

करालभ्ये पीठं विरचयति पीठोपरि पुन-
स्तदूर्ध्वं तच्चान्यत्तदुपरि समारोप्य चरणौ।
समुद्गाहुः शिक्याहधि च नवनीतादि च हरन्
निषिद्धश्चेत् कैश्चित् क्षिपति सकलं तूर्णमवनौ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

दूसरी पुरसुन्दरीने कहा—जब छीके इतने ऊँचे होते हैं कि पीढ़े आदिसे भी उनके पास नहीं पहुँचा जा सकता, तब यह पत्थर फेंककर या वहींपर पड़ी लंबी बल्ली उठाकर उनसे उन दधिनवनीतपूरित भाण्डोंमें छिद्र कर देता है। किस पात्रमें दधि है, किसमें नवनीत

है, किसमें दूध भरा है—इसका पूर्ण ज्ञान इसे पात्र देखते ही हो जाता है। उनके अनुरूप ही छोटा-बड़ा, चौड़ा-लंबा—कैसा छिद्र करना चाहिये, इस कलामें भी यह प्रवीण है तथा छिद्र करके अपना एवं सखाओंका मुख उसके नीचे कर लेता है, दधि-नवनीतकी धाराएँ ठीक इसके मुखमें गिरती हैं। मेरे एवं पार्श्ववर्ती गोपोंके घर ऐसी घटना हो चुकी है—

छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्विद्।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

तीसरी बोली—यशोदारानी! मेरे घरकी घटना सुनो। ऊँचे छीकेपर मैंने दूधका भाण्ड रख दिया था तथा भाण्डसे सटाकर एक घण्टा उसी छीकेमें बाँध दिया था—इसलिये कि नीलमणि किसी प्रकार भी यदि इसके पास पहुँच गया या उसने छिद्र किया तो घण्टा बज उठेगा और मैं पहुँच जाऊँगी। यह व्यवस्था करके मैं पार्श्ववर्ती गृहमें चली गयी। कुछ देर पश्चात् यों ही चली आयी। आकर जो देखा तो हँसी आने लगी। देखती हूँ—एक पीढ़ेपर दूसरा पीढ़ा रखा है, उसपर एक गोपशिशु खड़ा है। गोपशिशुके कंधेपर तुम्हारा नीलमणि चढ़ा हुआ है। नीलमणिने एक हाथसे घण्टाको पकड़ लिया, जिससे शब्द न हो जाय। फिर उसने भाण्डमें एक छिद्र किया। जब दूधकी धारा बह चली तो उसने मुखके समीप अपने एक हाथसे अञ्जलि बाँध ली, धारा उसीमें गिरने लगी। आनन्दविभोर होकर वह अपना सिर हिलाते हुए दुग्धपान करने लगा। कुछ देरतक तो मैं भी आनन्दजड हुई यह दृश्य देखती रही, पर फिर मुझे नीलमणिको पकड़ लेनेकी इच्छा हुई। मैं आगे बढ़ी। उसने भी मुझे देख लिया। इसका मुख उस समय दूधसे भरा था। इसने उसी दूधको फूत्कार करते हुए मेरी आँखोंपर फेंक दिया। दूधसे मेरी दोनों आँखें भर गयीं और इसी बीच यह कूदकर भाग गया—

पीठे पीठनिषण्णबालकगले तिष्ठन् स गोपालको
यन्त्रान्तःस्थितदुग्धभाण्डमवभिद्याच्छाद्य घण्टारवम्।
वक्त्रोपान्तकृताञ्जलिः कृतशिरःकम्पं पिबन् यः पयः
पायादागतगोपिकानयनयोर्गण्डूषफूत्कारकृत्॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

इसकी बात सुनकर सभी हँसने लगीं तथा जब एक अन्य गोपसुन्दरीने अपना विवरण सुनाया, तब तो सभी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयीं। वह बोली—कृष्णजननी! सुनो, परसोंकी बात है। नीलमणि मेरे घर गया। जाकर इसने नवनीतभाण्डमें हाथ डाल दिया। मैं दूरसे बोली—'रे शिशु! तू कौन है?' यह बोला—'री, मैं बलरामका छोटा भाई हूँ।' मैंने पूछा—'फिर यहाँ क्यों आया है?' इसपर इसने अविलम्ब उत्तर दिया—'मैं तो अपना घर समझकर आ गया।' मैं हँसकर बोली—'ठीक है, भ्रम होना तो सम्भव है; पर तुमने नवनीतके मटकेमें हाथ क्यों डाला?' इसपर इसने बड़ी गम्भीर मुद्रामें कहा कि 'गोपी मैया! देख; मेरा एक गोवत्स खो गया था, उसे ही मैं ढूँढ़ रहा था। तू क्षणभरके लिये अन्यथा चिन्तन या दुःख मत कर कि मैं तेरा माखन खाने आया हूँ।' तथा फिर इसने माखनसे सने एक स्फटिकनिर्मित गोवत्सको (खिलौनेको) मुझे दिखाया और बोला—'माता! मिल गया! अब मैं जाता हूँ। बलभद्रने मधुवनसे लाकर इस गोवत्सको मुझे दिया था। यह प्रायः मेरे हाथसे—जहाँ कहीं भी नवनीत-भाण्ड इसने देखा कि उसीमें—कूद पड़ता है; फिर इसे निकालनेमें मुझे बड़ी कठिनता होती है।'—कहकर यह तो चला गया और मैं हँसीमें इसे पकड़ना भूल गयी—

कस्त्वं लाल बलानुजः किमिह रे मन्मन्दिराशङ्क्य
युक्तं तन्नवनीतपात्रविवरे हस्तं किमर्थं न्यसेः।
मातः कंचन वत्सकं मृगयितुं मा गा विषादं क्षणा-
दित्येवं वरवल्लवीप्रतिवचः कृष्णस्य पुष्णातु नः॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

एक व्रजभामाने यह कहा—व्रजेशगृहिणी! एक बात मैं सुनाती हूँ। सब उपायोंसे हारकर मैंने नवनीत-भाण्ड एक सर्वथा अन्धकारपूर्ण गृहमें रख दिये। ऐसा

करके मैं निश्चिन्त हो गयी। पर लौटकर देखा तो दंग रह गयी। नीलमणि उस प्रकोष्ठमें खड़ा माखन खा रहा है, उसके श्यामल अङ्गोंको विभूषित करनेवाले मणिआभूषणोंके प्रकाशमें प्रकोष्ठ जगमग-जगमग कर रहा है। इस प्रकाशमें प्रकोष्ठका अणु-अणु उद्भासित हो रहा है—

मणिगणमहसा गणयति न तमः। (श्रीगोपालचम्पूः)

इसकी बात पूर्ण भी नहीं हुई थी कि एक नव-तरुणी चटपट बोल उठी— बावरी! तू तो मणिभूषणोंके तेजकी बात कहती है। अरे! इसका अङ्ग ही प्रदीप है। जहाँ यह जाता है, वहीं एक श्यामज्योति भर जाती है। उस ज्योतिके आलोकमें गहन अन्धकारमें बड़ी गुप्त, सुरक्षित रखी हुई नवनीत आदि सभी वस्तुओंको यह पा लेता है, बाहर निकाल लाता है—

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपम्।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

निष्कृष्य यद्यद् गहनान्धकारे हैयंगवीनादि सुरक्षितं यत्।
प्रक्षिप्य पश्यन् स्वमहःप्रकाशैस्तत् सर्वमानीय बहिष्करोति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

एक व्रजपुरन्ध्री बोली—कृष्णजननी! प्रथम तो इसके मुखका स्मित, इसकी अमृतस्रावि‌णी मधुर स्वरलहरी, अङ्गसंचालन, अङ्गलावण्य आदि ही ऐसे हैं कि इसे देखते ही हम सब मोहित हो जाती हैं, इसके दर्शनजन्य मधुपानसे उन्मादिनी होकर अशक्त हो जाती हैं तथा हमारे सामने ही यह हमारी वस्तुओंको ले जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे घरके बालकोंको भी इसने अपना साथी बना लिया है, वे इसके गुप्तचरका काम करते हैं। ठीक जिस समय हम सब गृह-कार्यमें अत्यन्त व्यग्र रहेंगी, इसे इसकी सूचना हमारे पुत्रोंके द्वारा ही मिल जायगी तथा यह वहाँ पहुँचकर यथायोग्य उत्पात आरम्भ कर देगा—

काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

एक अत्यन्त सरला गोपवनिताने यह कहा—सुन्दरी यशोदे! देव-पूजाके लिये मैंने भूमिका प्रक्षालन—मार्जन किया था, सुन्दर चौक पूरे थे, भोग धराये थे। यह आया, पूजासे पूर्व ही भोग उठाकर खाने लगा। मेरे पूछनेपर बोला—'री! देवता तो मैं हूँ, मेरी पूजा किया कर।' मैं चिढ़कर इसे पकड़ने चली, पर अकेली थी। इसने सखाओंसे कहा—'भैयाओ! मेरा निरादर करके यह पूजा करने चली है; इसकी यज्ञवेदी तो भ्रष्ट करने योग्य, मूत्र त्यागने योग्य है।' बस, इसके सखा इसका संकेत पाकर कुछ तो अपवित्र धूलि-पत्ते फेंककर, कुछ मूत्र त्यागकर, सब कुछ अशुद्ध करके भाग गये—

एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३१)

अपि बालान्मेहयते गेहे। (श्रीगोपालचम्पूः)

वास्तौ लिप्ते सुललितमृदा चित्रिते चारुचूर्णै-
धूलीपत्रादिभिरशुचिभिः शुद्धिहानिं करोति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर संकेत करते हुए उसी सरला गोपीने कहा—'तनिक इसकी ओर देखो तो सही! इसके भीतर चोरीकी न जाने कितनी कलाएँ छिपी हैं, चोरीके उपायोंसे व्यापार चलानेमें यह कितना सुनिपुण है, पर यहाँ तुम्हारे सामने ऐसी मुद्रामें बैठा है, मानो सर्वथा साधु-स्वभाव परम शान्त शिशु हो—

स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३१)

इस प्रकार विविध मुद्रा धारणकर व्रजसुन्दरियोंने श्रीकृष्णचन्द्रके कौमारचापल्यका वर्णन व्रजराजगेहिनीको सुनाया। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी भीतिविजड़ित नयनोंकी शोभा वे देखना चाहती थीं, व्रजरानीको उनके नीलमणिकी चञ्चल चेष्टाओंका वर्णन श्रवण कराकर, मधुपान कराकर सुख-समुद्रमें निमज्जित करना चाहती थीं तथा ऐसा करके स्वयं भी

उसी सागरकी लहरोंमें स्नान करने आयी थीं; लीलाशक्तिने उनके ये तीनों मनोरथ पूर्ण कर दिये। गोपसुन्दरियोंने पुलकित होकर देखा कि श्रीकृष्णचन्द्रके नयनारविन्दोंमें भयके चिह्न सुस्पष्ट हो रहे हैं, उन्हें भय हो रहा है कि जननी कहीं गोपसुन्दरियोंकी बातोंसे मेरी ताड़ना तो नहीं करेगी। किंतु जननीके नेत्रोंसे, रोम-रोमसे आनन्दका निर्झर झर रहा है। उनके मुखपर अतिशय उल्लास भर आया है, प्रसन्नमुखसे वे कुछ कहना चाहती हैं, पर सुखातिरेकसे कण्ठ रुद्ध हो गया है। सब सुनकर भी ताड़नाकी बात तो दूर, अपने नीलमणिको स्नेहपूरित उपालम्भ भी वे इसके लिये दें, यह कल्पना भी उनके मनमें नहीं उदय हुई—

इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३१)

गोपसुन्दरियाँ भी व्रजरानीका यह भाव, श्रीकृष्णचन्द्रकी वह मुद्रा देखकर परमानन्दके प्रवाहमें बह चलती हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रने जब अपनी मैयाकी प्रसन्नमुद्रा देखी, तब उन्हें साहस हो आया। फिर तो गोपसुन्दरियोंके सम्बन्धमें उन्होंने भी अपनी मैयाको बहुत-सी बातें बतायीं। मैं इनके घर क्यों जाता हूँ, वहाँ क्या करता हूँ, किस प्रकार ये मुझे अपने सुखका साधन बनाती हैं—इन बातोंपर प्रकाश डालते हुए उन्होंने भी गोपसुन्दरियोंपर कई अभियोग लगाये। उनकी सुधाभरी वाणीमें यह वर्णन सुनकर व्रजेश्वरी एवं गोपसुन्दरियाँ आनन्दोन्मादके कारण कुछ देरके लिये तो वास्तवमें सुध-बुध खो बैठीं। सबका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। जब चेतना आयी, तब देखा मध्याह्नका सूर्य ढल रहा है, व्रजेश्वर आदि भोजनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

व्रजरानी उठीं। पहले व्रजराज आदि गोपोंने भोजन किया, फिर समस्त पुरसुन्दरियोंकी पङ्क्ति एक साथ बैठी। श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपनी जननीकी गोदमें विराजित होकर दाऊ भैयाके साथ भोजन किया। भोजनका ऐसा सुख व्रजपुरन्ध्रियोंने अबतक कभी अनुभव नहीं किया था।

बड़ी देरतक व्रजरानी रसालाप करती रहीं। फिर गोपसुन्दरियोंके भालपर मङ्गल-तिलककी रचना कर, उनकी यथायोग्य पूजा कर उन्हें विदा किया—

तासां बन्धुसपर्यां विधाय च विसर्जयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उसी दिन संध्यासे कुछ पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र कतिपय गोपसुन्दरियोंके घर पुनः गये। उनके घरमें जितने नवनीत-दधि-दुग्ध आदि पदार्थ संचित थे, सबको बिखेरकर बहा दिया। उन गोपियोंका अन्तर्हृदय तो आनन्दसे नाच उठा, किंतु बाहर वे अतिशय कुपित हुईं। बड़-बड़ करती हुई वे व्रजेश्वरीके समीप पहुँचीं। श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चलताका दायित्व उन्होंने व्रजरानीपर ही रखा तथा उन्हें खूब खरी-खोटी सुनायीं। व्रजरानीने हाथ जोड़कर उन्हें शान्त किया। श्रीकृष्णचन्द्रको ये सब कोई अभिशाप न दे दें—इस भयसे वे उनसे क्षमा-याचना करने लगीं। फिर भंडारमें गयीं। दधि-दुग्ध-नवनीतकी शत-शत मटकियाँ दासियोंसे उठवाकर आँगनमें रखवायीं तथा नीलमणिने जिसके घर जितनी हानि की है, उतना तौल-तौलकर ले जानेकी सबसे प्रार्थना की। साथ ही हाथ जोड़कर यह निवेदन करने लगीं—

मारी मति दीजौ, मो गरीबनी कौ जायौ है।
जितौ तो बिगार कियौ, आनि कहौ मो सौं तुम,
मैं तो काहू बातनि में नाहिं तरसायौ है॥
दधि की मटुकिया लै-लै आँगन में आनि धरी,
तौलि तौलि लीजौ भटु, जेतौ जाकौ भायौ है।
सूरदास-प्रभु प्यारे, निमिष न हूजौ न्यारे,
कान्ह-जैसो पूत पूरे पुन्यनि तैं पायौ है॥

श्रीकृष्णकी दूसरी वर्षगाँठ, श्रीकृष्णके द्वारा मोतियोंकी खेती

उस दिन भी आकाशसे बूँदें झर रही थीं, आज भी मेघ मुक्ता-सदृश जलबिन्दुओंकी वर्षा कर रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी पिछली प्रथम वर्षगाँठके समय जो कुछ जैसे हुआ था, आज इस वर्षगाँठके दिन भी सब कुछ सर्वथा वैसे ही हो रहा है। उस दिन गोपपुरसुन्दरियोंने देखा था—

आजु भोर तमचुर के रोल।
गोकुल मैं आनंद होत है, मंगल-धुनि महराने टोल॥
फूले फिरत नंद अति सुख भयौ, हरषि मँगावत फूल-तमोल।
फूली फिरति जसोदा तन-मन, उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल॥
तनक बदन, दोउ तनक-तनक कर, तनक चरन पौंछति पट झोल।
कान्ह-गरैं सोहति मनि-माला, अंग अभूषन अँगुरिनि गोल॥
सिर चौतनी, डिठौना दीन्हौ, आँखि आँजि पहिराइ निचोल।
स्याम करत माता सौं झगरौ, अटपटात कलबल करि बोल॥
दोउ कपोल गहि कै मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल।
सूर स्याम ब्रज-जन-मन-मोहन, बरष-गाँठि कौ डोरा खोल॥

आज भी वे व्रजेश्वरीको आनन्दमत्त एवं अस्त-व्यस्त भावसे आदेश करते देख रही हैं—

अरी, मेरे लालन की आजु बरष-गाँठि,
सब सखिनि कौं बुलाइ मँगल-गान करावौ।
चंदन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकैं पुराइ,
उमँगि अँगनि आनँद सौं, तूर बजावौ॥
मेरे कहें बिप्रनि बुलाइ, एक सुभ घरि धराइ,
आगे-चीरे बनाइ, भूषन पहिरावौ।
अछत-दूब दल बँधाइ, लालन की गाँठि जुराइ,
इहै मोहि लाहौ नैननि दिखरावौ॥
पँचरँग सारी मँगाइ, अधूहि जननि पैंहराइ,
नाचैं सब उमँगि अंग, आनँद बढ़ावौ।
नँदरानी ग्वारिन बुलाइ, इहै रीति कहि सुनाइ,
बेगि करौ किन, बिलंब काहैं लगावौ॥

अन्तर केवल इतना है कि उस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी जितनी आयु थी, आज उससे एक वर्ष अधिककी है; उनके श्रीअङ्गोंका सौन्दर्य, नित्य नवीन लावण्य, मधुरिमा—ये सब क्षण-क्षणमें बढ़कर कोटि-कोटि-गुणित हो गये हैं; तथा पुरवासियोंका, विशेषतः व्रजसुन्दरियोंका आनन्द अपरिसीम बन गया है। अनन्त पारावाररहित आनन्दसागरमें लहरियोंकी भाँति नाचती हुई वे व्रजपुरन्ध्रियाँ नन्दभवनमें उत्सव मनाने आयी हैं, मधुर मङ्गलगान करती हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी झाँकीपर न्यौछावर हो रही हैं—

उमगीं ब्रजनारि सुभग, कान्ह बरष-गाँठि उमँग, चहतिं बरष बरषनि।
गावहिं मंगल-सुगान, नीकें सुर, नीकी तान, आनँद अति हरषनि॥
कंचन मनि-जटित थार, रोचन, दधि, फूल-हार, मिलिबे की तरसनि।
प्रभु बरष-गाँठि जोरति, वा छबि पर तृन तोरति, सूर अरस-परसनि॥

उत्सव अपराह्णमें समाप्त हुआ। विप्र-पूजा, अतिथि-अभ्यागत-अर्चना, बन्धु-बान्धव-कुटुम्ब-सहभोज—सबसे निवृत्त होकर यशोदा रानीने अब कहीं नीलमणिको बाहर जानेकी अनुमति दी। अबतक श्रीकृष्णचन्द्रको भवनमें रुद्ध रखना जननीकी एक भारी विजय है। कितनी कठिनता मैयाको हुई है, यह वे ही जानती हैं। 'मेरे लाल! मैं तुम्हें एक मणिनिर्मित मयूर दूँगी, उसे तू नचाना। अरे देख, मेरे पास एक हीरक-गोवत्स (खिलौना) इतना सुन्दर है कि तू देखकर चकित रह जायगा, मैंने तुझे देनेके लिये ही मँगाया है, तू उसे बलरामको दिखाना; उसके पास ऐसा कोई खिलौना नहीं।'—इस प्रकार विविध प्रलोभनोंमें नीलमणिको भुलाकर जननीने दो पहर बिताये हैं; क्योंकि माङ्गलिक कृत्यके लिये श्रीकृष्णचन्द्रका घरपर रहना आवश्यक था। साथ ही जननीको भय था कि पता नहीं यह बाहर जाकर किस गोपीके घर कौन-सा उत्पात करने

लग जाय और इस प्रकार उत्सवमें विघ्न हो जाय। जो हो—जननीके आदेशकी देर थी, श्रीकृष्णचन्द्र कूदते-फाँदते तोरणद्वारके समीप पहुँचे। वहाँ गोपसखा प्रतीक्षा कर रहे थे। उन सबको साथ लेकर वे पलभरमें ही राजपथकी सघन तरुश्रेणीमें मानो मिल-से गये। यशोदा रानी, गोप-रामाएँ जान न सकीं कि श्रीकृष्णचन्द्र किधर, किस दिशामें गये। गोपियाँ भी अपने-अपने घर लौटनेका उपक्रम करने लगीं, पर भीतरसे सभी जान-बूझकर विलम्ब कर रही थीं—इस आशासे कि मेरे पीछे कदाचित् नन्दनन्दन मेरे घर ही गये हों तो उन्हें यथेच्छ उत्पात करनेका समय मिल जाय। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र आज इनमेंसे किसीके भी घर उत्पात करने नहीं गये। वे तो सर्वथा एक अभिनव लीलाका सूत्रपात करने एक ग्वालिनके घर गये हैं। अस्तु,

अपने घरमें एकाकिनी एक गोपबाला बैठी है। उसके घरके सभी वर्षगाँठ-महोत्सवमें चले आये हैं। शीघ्र-से-शीघ्र आवश्यक गृहकार्य समाप्त करके नन्दभवनमें चले आनेके लिये उससे भी वे सब कह गये थे। पर श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन करते-करते वह ऐसी भूली कि 'आज वर्षगाँठ है, यह स्मृति भी खो बैठी। उसके नेत्रोंके सामने तो श्रीकृष्णचन्द्र विविध क्रीड़ा कर रहे थे और वह देख रही थी। यह उसके मनकी कल्पना है, यह भान भी उसे नहीं रहा। वह तो अनुभव कर रही थी—'वास्तवमें प्रत्यक्ष नन्दनन्दन ही हैं, सखाओंके साथ खेल रहे हैं।' आठ घड़ी बीत गयी हैं, पर उसे चेत नहीं। उसे ही चेत करानेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र उत्सव समाप्त होते-न-होते और कहीं न जाकर इसके घर आये हैं।

अपने घर तुमुल आनन्दनाद सुनकर गोपबालाके नेत्र खुल गये। उसने देखा—अपनी नवनीरद-कान्तिसे भवनको उद्भासित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र मेरे सामने खड़े हैं। गोपसुन्दरी ठीक निर्णय न कर सकी कि यह जाग्रत् है या स्वप्न। पर उसके प्राणोंमें एक अभूतपूर्व उल्लास भर गया। इतनेमें वीणाविनिन्दित मधुरातिमधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोल उठे—'क्यों री! तू मेरे घर नहीं आयी? और सब ग्वालिनें तो वहाँ हैं।' और यह कहकर वे हँसने लगे। गोपबालाको प्रतीत हुआ—मानो उसके कर्णपुटोंमें किसीने सुधा ढरका दी हो, मधुकी धारा बहा दी हो। उन्मत्त-सी हुई वह उठ खड़ी हुई, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दौड़ी। श्रीकृष्णचन्द्र उसे आते देखकर भागने लगे, पर उसने तो विद्युद्गतिसे आकर उनका एक हाथ पकड़ लिया। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको भय होने लगा कि पता नहीं इसने क्यों पकड़ लिया, क्या करेगी। वे हाथ छुड़ानेकी चेष्टा करने लगे। पर ग्वालिन हाथ छोड़ जो नहीं रही है। बार-बार वे उससे कहते हैं—'री! तूने मुझे पकड़ा क्यों? छोड़ दे, मुझे विलम्ब हो रहा है।' किंतु वह न तो छोड़ती है न कोई उत्तर देती है। केवल हँसने लगती है। आखिर वे अपने छूटनेकी युक्ति निकाल लेते हैं। गोपसुन्दरीके वक्षःस्थलपर झूलते हुए मुक्ताहारको दूसरे हाथसे खींचकर तोड़ डालते हैं। मोती भूमिपर बिखेरने लगते हैं। अस्त-व्यस्त हुई गोपसुन्दरी उन मोतियोंको सँभालने जाती है तथा इसी बीचमें श्रीकृष्णचन्द्रका हाथ छूट जाता है और वे भाग निकलते हैं। गोपसुन्दरीने मोतीके दो-चार दाने तो चुनकर अञ्चलमें रख लिये, पर उसे ऐसा प्रतीत होने लगा—आह! मेरा मनरूप मणि हरकर श्रीकृष्णचन्द्र चले गये हैं। अविलम्ब वह भी उस टूटे हुए मुक्ताहारको हाथमें लिये सर्वथा बावली-सी हुई नन्दभवनकी ओर चल पड़ती है।

अभी भी व्रजराजके द्वारपर गोपवनिताओंकी भीड़ लगी है। कोई भी गोपसुन्दरी वहाँसे हटना जो नहीं चाहती। नन्दनन्दनकी चेष्टाओंको परस्पर एक-दूसरीसे बताकर सभी सुखसमुद्रमें निमग्न हो रही हैं। इनके बीचसे होकर वह गोपबाला यशोदारानीके पास चली जाती है। कुछ देरतक तो यों ही खड़ी रहती है। चकित होकर व्रजेश्वरी उससे आनेका कारण पूछती हैं, पर वह कुछ भी नहीं बोलती। जब यशोदारानी

अतिशय प्यारसे उसे अपने निकट बैठाकर उसके सिरपर हाथ फेरती हैं, तब वह किसी प्रकार आत्मसंवरण करके अपनी बात कहती है—'मैया! देखा, मैं अपने घर अकेली बैठी थी, तुम्हारे नीलमणिने वहाँ जाकर मेरा मुक्ताहार तोड़ दिया।' इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आ पहुँचते हैं। जननीके द्वारा दिये हुए मणिमयूर (खिलौना)-को वे साथ ले जाना भूल गये थे, उसीको लेने आये हैं। जननी उन्हें अपने समीप बुलाती हैं, मुक्ताहार तोड़नेके सम्बन्धमें पूछती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी सर्वथा सत्य उत्तर देते हैं। घटना सुननेपर उपस्थित गोपसुन्दरियोंका हृदय आनन्दसे भर जाता है। जननीके मुखारविन्दपर हँसी छा जाती है। वे पास खड़े अपने नीलमणिको गोदमें उठा लेती हैं, कपोलोंका चुम्बन करके उनके कानमें धीरे-धीरे कुछ समझाती हैं। फिर अपने कण्ठका बहुमूल्य मुक्ताहार निकालकर नीलमणिके हाथपर रख देती हैं। 'ले! यदि मैंने तेरा हार तोड़ दिया है तो तू बदलेमें यह मुक्ताहार ले जा।'—यह कहते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उस हारको गोपबालाके हाथपर रख देते हैं तथा अपना मणिमयूर लेकर बाहरकी ओर दौड़ जाते हैं। यशोदारानी उस मुक्ताहारको उठाकर गोपसुन्दरीके गलेमें डाल देती हैं। हार पाकर उसकी क्या दशा हुई, यह तो केवल वही जानती है। पर उसका यह अप्रतिम सौभाग्य निहारकर अन्य गोपतरुणियोंका तो रोम-रोम पुलकित हो उठा। साथ ही उन सबके अन्तस्तलमें यह लालसा जाग उठी—'ओह! कदाचित् हमारा भी यह सौभाग्य होता—नन्दनन्दनके सुकोमल करपल्लवसे स्पृष्ट मुक्ताका एक दाना भी कहीं हम पा जातीं!'

इसके दूसरे दिनकी बात है। मुक्ता एवं प्रवालसे भरी पेटी सिरपर रखे हुए एक बनजारा (व्यापारी) व्रजपुरमें मुक्ता विक्रय करने आया,—नहीं-नहीं, स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति उस बनजारेको बुलाकर ले आयीं। वीथियोंमें फेरी देते हुए वह राजसभा-भवनके पास आया। व्रजेशका वैभव देखकर उसके नेत्रोंमें चकाचौंध छा गयी। न जाने कितनी देर वह अतृप्त नयनोंसे नन्दप्रासाद एवं सभाभवनकी शोभा निहारता रहा। फिर पेटी उठाकर अपने आवासकी ओर चल पड़ा। उसके हृदयमें स्पन्दन हो रहा है—'भला, इस परम दिव्य रत्नमय व्रजपुरमें मेरे इन क्षुद्र मुक्ताओंका ग्राहक कौन मिलेगा?' इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र सामने आ निकले। 'क्या बेचते हो?' यह पूछने लगे और पेटी उतरवाकर मोती देखने लगे।

उन मुक्ताओंमें ऐसी ज्योति पहले थी या नहीं, कहना कठिन है। पर जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्रकी उनपर दृष्टि पड़ी, उस क्षणसे तो उनकी चमक-दमक ऐसी बढ़ गयी कि सारे व्रजवासी उन्हें देखकर थके-से, जके-से रह गये! अब नन्दनन्दन तो उन मोतियोंको लेनेके लिये मचल उठते हैं—

निरखि नैन अरुझ्यौ मनमोहन, रटत देहु कर बारंबार।

बनजारा पहले तो नन्दनन्दनकी ओर निर्निमेष नयनोंसे देखता रहता है। फिर एक परम सुन्दर मोती उनके करपल्लवपर रख देता है। पर मोतीका मूल्य? इतना अधिक कि सुनते ही व्रजेश्वर भी चकित रह जाते हैं। लौटानेका तो प्रश्न ही नहीं; क्योंकि उस सुन्दर मोतीकी ज्योतिपर नन्दनन्दन रीझ जो गये हैं, अपने हाथपर रखे हुए हैं, दूसरेके हाथपर भी नहीं देते—

दीरघ मोल कह्यौ ब्यौपारी, रहे ठगे सब कौतुक हार।
कर ऊपर लै राखि रहे हरि, देत न मुक्ता परम सुढार॥

पुत्रका हठ देखकर व्रजेश्वर उस मोतीका मूल्य चुका देते हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकी विजय होती है। वे मुक्ता हाथमें लिये भवनके प्राङ्गणमें चले जाते हैं; किंतु आज तो उन्हें नया खेल खेलना है। इसीलिये तुरंत कालिन्दीकी कर्पूरधवल रज मँगाते हैं। रजसे परम सुन्दर आलवाल (थाला) निर्मितकर उसमें बीजकी भाँति उस मुक्ताको बो देते हैं—

गोकुलनाथ भए जसुमति के आँगन भीतर, भवन मझार।

अपने नीलमणिका यह कौतुक देखकर जननी हँसी रोक नहीं पातीं—

हँसति जसोमति मात, कहति करत मोहन कहा।
यह नहिं जानति बात, ये करता सब जगत के॥

किंतु क्षणभर बाद ही यशोदारानीके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—ओह! मेरे नीलमणिकी अञ्जलिसे जल गिरते ही उस मुक्ताबीजके स्थानपर तो अङ्कुर उदय हो गया! स्पष्ट दो पत्र विकसित हुए। वीरुध निर्मित हो गया। मुक्ततरु बन गया। शाखाएँ फूट निकलीं। मञ्जरियाँ लग गयीं। फल लग गये। फलभारसे मुक्ततरु नत हो रहा है। राशि-राशि मोती झर रहे हैं। क्षणोंमें यह कैसे हो गया—

साखा-पत्र भए जल मेलत, फूलत-फरत न लागी बार।

यशोदारानी यह नहीं जानतीं कि जिसके लिये श्रुतियाँ यह कहती हैं—'इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य-चन्द्र विधृत हैं, स्थित हैं, नियमसे उसकी आज्ञाका पालन करते हैं; द्युलोक एवं पृथिवी—दोनों विधृत हैं, स्थित हैं, कभी उस अक्षरके द्वारा निश्चित मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करते; इस अक्षरके ही प्रशासनमें निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर विधृत हैं, स्थित हैं, कभी उस अक्षरद्वारा निश्चित कर्तव्यकी अवहेलना नहीं कर सकते; इस अक्षरके ही प्रशासनमें हिमालय आदि पर्वत-श्रेणियोंसे नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं; जो पूर्वकी ओर प्रवाहित कर दी गयी हैं, वे पूर्वकी ओर ही बह रही हैं; जो पश्चिमकी ओर प्रवाहित हैं, वे पश्चिम दिशाकी ओर ही बहती जा रही हैं; इस अक्षरके शासनने जिन-जिनकी गति जिस-जिस दिशाकी ओर कर दी है, उसका ही अनुसरण वे कर रही हैं, कभी अक्षरके द्वारा निर्धारित क्रमका उल्लङ्घन नहीं कर सकतीं—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु × × × ×

—वह अक्षर-तत्त्व भी उनके (यशोदारानीके) नन्हें-से नीलमणि ही हैं। मैया नहीं जानतीं कि मेरे इस छोटे-से नीलमणिमें समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, समस्त ज्ञान, समस्त वैराग्य नित्य वर्तमान रहते हैं; यह स्वयं भगवान् है, इसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं; इसीने सृष्टिके आदिमें लोक-सृजनकी इच्छा की थी; इच्छा होते ही इसने महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रसम्भूत एकादश इन्द्रियों तथा पञ्चमहाभूतोंसे समन्वित पुरुषरूप ग्रहण कर लिया; यही कारणार्णवशायी बना; कारणसमुद्रमें सोते हुए इसीने योगनिद्राका विस्तार किया था, फिर नाभि-सरोवरसे एक पद्मकी अभिव्यक्ति हुई एवं उस पद्मसे ही प्रजापतियोंके अधिपति ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे, जिनसे समस्त प्रजा सृष्ट हुई—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १। ३। १-२)

मैयाको यह पता नहीं कि मेरे इस साँवरे-सलोने दो वर्षके पुत्रकी लीला अमोघ है; लीलासे ही मेरा यह पुत्र अपनेमें ही विशाल विश्वकी रचना करता है, पोषण करता है और फिर संहार भी कर लेता है; किंतु ऐसा करके भी यह इसमें आसक्त नहीं होता, ऐसा यह विलक्षण है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें इसका निवास है, पर यह इतना छिपा रहता है कि इसे विरले ही जान पाते हैं। छिपे रहकर, ज्ञानेन्द्रिय एवं मनका नियन्ता रहकर उनके विषयोंको ग्रहण भी करता है, पर ग्रहण करके भी उनसे लिप्त नहीं होता। यह परम स्वतन्त्र है, सबका शासक है, इसका

शासक कोई नहीं; जैसे नटके अभिनयसंकेतको—उसके संकल्पको अनजान मनुष्य नहीं जान सकते, वैसे मेरे इस शिशुके संकल्पसे रचित इन विविध नाम-रूपोंको—जगत्‌को इसकी विविध विचित्र लीलाओंको कुबुद्धिसे भरे जीव तर्क लगाकर जान नहीं सकते, इसकी लीलाएँ तो अत्यन्त दुर्विज्ञेय हैं—

स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः॥
न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः संतन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥

(श्रीमद्भा० १। ३। ३६-३७)

यदि यशोदारानीको इस रहस्यका पता होता तो अपने नीलमणिके द्वारा रचित इस मुक्ततरुको देखकर उन्हें आश्चर्य नहीं होता। नित्य वात्सल्यरसघनमूर्ति व्रजेश्वरी इस ऐश्वर्यका अनुसंधान भी ले सकें, इतना अवकाश ही उनके हृदयमें कहाँ है। श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य कभी जननीका दर्शन करने आता भी है तो दूरसे ही वात्सल्यकी किसी क्षुद्र लहरीमें बह जाता है। अस्तु,

व्रजेश्वरी तो स्तम्भित खड़ी रहती हैं। पर यह समाचार व्रजपुरमें फैलते देर नहीं लगती। दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ दौड़ पड़ीं। जो जिस अवस्थामें थी, वैसे ही चली आयी। उन्हें अपने नेत्रोंपर विश्वास नहीं हो रहा है। भ्रम हो, पर श्रीकृष्णचन्द्रकी उमंग तो उनमें समा नहीं रही है। नाच-नाचकर वे अपनी अञ्जलिको मोतियोंसे पूर्ण कर लेते हैं तथा निकट आयी हुई व्रजतरुणीके अञ्चलमें उँडेल देते हैं। साढ़े छः पहर पूर्व जिन व्रजतरुणियोंने श्रीकृष्णकरस्पृष्ट मुक्ताके एक दानेकी चाह की थी, उनके अञ्चल व्रजेन्द्रनन्दनने राशि-राशि मुक्ताओंसे भर दिये।

अगणित गोपोंने, व्रजेश्वरने भी इस मुक्ततरुके दर्शन किये। व्रजराजने तो यह सोचा—वह बनजारा नरलोकका प्राणी नहीं था, कोई सिद्धलोकके पुरुष इस वेषमें आये थे, अथवा मेरे इष्टदेव श्रीनारायणकी ही यह माया है। नारायणकी स्मृतिसे उनका हृदय भर आया। व्रजेश्वरीने भी अपने मनका समाधान ऐसे ही किया।

वह मुक्ततरु तो अदृश्य हो गया, पर मुक्ताके दाने ज्यों-के-त्यों बने रहे। यह सत्य है या स्वप्न—इसकी परीक्षाके लिये उन व्रजतरुणियोंने उन दानोंको मुक्ताहारमें पिरोया। हारको वे सदा हृदयपर धारण किये रहती हैं। हारके प्रत्येक मुक्तासे उन्हें श्रीकृष्णके परम सुखमय स्पर्शका अनुभव होता है, प्रत्येकमें उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी छवि अङ्कित प्रतीत होती है। यह मुक्ताहार उनका जीवनहार बन गया। अवश्य ही इस लीलाका वास्तविक मर्म किसीने नहीं जाना—

जानत नहीं मरम सुर-नर-मुनि, ब्रह्मादिक नहिं परत बिचार।
सूरदास प्रभु की यह लीला, ब्रज-बनिता पहिरे गुहि हार॥

ग्वालिनोंके उपालम्भपर माँ यशोदाकी चिन्ता और उलाहना देनेवालीपर खीझ

कलिन्दनन्दिनीके तरल प्रवाहके अति समीप अपने *नीलमणिको लहरियोंका* जल बिखेरते देखकर यशोदारानीका हृदय धक्-धक् कर उठा। हाथका पात्र भूमिपर पटककर वे दौड़ पड़ीं तथा पीछेसे जाकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रको पकड़ लिया। चञ्चल लहरें व्रजेश्वरीके चरणोंका स्पर्श करने लगीं। व्रजरानीने सोचा—'अरे! एक क्षणका भी यदि विलम्ब हो गया होता और नीलमणि एक डग भी आगे बढ़ जाता तो लहरें इसे बहा ले जातीं। मेरा तो सर्वनाश हो जाता·····।' उन्होंने व्याकुल नेत्रोंसे एक बार तो उमड़ती हुई तपनतनया श्रीयमुनाजीकी ऊँची लहरोंकी ओर देखा, लहरें तीरसे बार-बार टकराकर बड़े वेगसे क्षण-क्षणमें दिशा बदल रही थीं; तथा फिर देखा, उसी तीरपर खड़े नन्हें-नन्हें गोपशिशुओंको। गोपशिशु विविध तरुपत्रोंसे दोने बना-बनाकर यमुनाके प्रवाहमें छोड़ रहे थे। जननीके आनेसे पूर्व यही तो खेल हो रहा था। होड़ लगी थी कि श्रीकृष्णचन्द्रसे दस हाथ दूर किस गोपसखाने कितने दोने बहाये एवं श्रीकृष्णचन्द्र बह-बहकर आते हुए उन पत्रपुटोंमेंसे कितने पकड़ पाये। पत्रपुट बालकोंके हाथसे छूटते ही तरङ्गोंपर नाचने लगते, तरङ्गें उन्हें बहा ले चलतीं; कुछ तो धाराके वेगसे गम्भीर जलमें बह जाते, कुछ किनारेको छूते हुए-से चलते। इनमेंसे कुछको तो श्रीकृष्णचन्द्र हाथ फैलाकर पकड़ लेते और कुछको धाराएँ बहा ले जातीं। पत्रपुट हाथमें आते ही विजयके उल्लासमें वे तीरकी ओर देखते, गोपसखा आनन्द-कोलाहल करने लगते; किंतु जब दोना हाथमें नहीं आता तो शिशु ताली पीटने लगते। यह क्रीड़ा हो रही थी। जननीने आकर उसमें विघ्न कर दिया। उन्हें देखकर गोपबालक तो किञ्चित् सहम गये; किंतु श्रीकृष्णचन्द्र उमंगमें भरकर मैयासे अपनी जयघोषणा करने लगे कि 'देख, मैंने इतने पत्रपुट जलमेंसे छाने हैं।' जननी पहले तो कुछ रोषमें भरकर, फिर लाड़पूर्वक, श्रीकृष्णचन्द्रको एवं अन्य बालकोंको बार-बार समझाने लगीं। उन्होंने आगे कभी भी जलमें उतरनेसे, ऐसा खेल खेलनेसे सबको सावधान किया, डूब जानेकी सम्भावना दिखाकर भय भी दिखलाया। पर यह करके स्वयं चिन्तामें निमग्न हो गयीं कि 'अब कौन-सा उपाय करें?'

श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरियोंके घर इतना अधिक उत्पात करने लगे थे कि एक-न-एक गोपी उलाहना देनेके लिये नन्दभवनमें आयी हुई रहती ही थी। व्रजरानी भी यह अच्छी तरह जानती थीं कि उलाहनेका तो मिस है, वास्तवमें यह आयी है मेरे नीलमणिको देखने। व्रजेश्वरको भी यह पता लग गया था; क्योंकि एक दिन एक वयस्का गोपी उनके सामने ही व्रजरानीको उलाहना देने लगी—

महरि तैं बड़ी कृपन है, माई!
दूध-दही बहु बिधि कौ दीन्हौ, सुत सौं धरति छपाई॥
बालक बहुत नहीं री तेरें, एकै कुँवर कन्हाई।
सोऊ तो घर-ही-घर डोलतु, माखन खात चोराई॥
बृद्ध बयस पूरे पुन्यनि तैं, तैं बहुतै निधि पाई।
ताहू के खैबे-पीबे कौं, कहा करति चतुराई॥

सुनकर व्रजेश्वरके मुखपर तो ग्लानिकी छाया-सी पड़ गयी। पर यशोदारानी हँस पड़ीं। हँसकर उन्होंने व्रजराजको सारा रहस्य समझा दिया—

सुनहु न बचन चतुर नागरि के जसुमति नंद सुनाई।
सूर स्याम कौं चोरी कें मिस देखन है यह आई॥

किंतु फिर भी जब कोई नवतरुणी अत्यन्त रोषमें भरी आती और कहती—'देखो नन्दरानी! तुम्हारे

नीलमणिने मेरे घर जाकर नवनीतकी नदी बहा दी तथा जब मैं पकड़ने गयी तो इसने मेरी चूड़ियाँ तोड़ दीं, मेरी साड़ीके टूक-टूक कर दिये, मेरी कैसी दुर्दशा इसने की है, तुम स्वयं देख लो।' तो उस समय यशोदारानीका वात्सल्यपूरित हृदय दुर्-दुर् करने लगता। वे सोचने लगतीं—'कहीं वास्तवमें ही मेरे पुत्रकी चेष्टासे इसे इतना क्षोभ हुआ हो तो क्या पता। उलाहनेका मिस है, इसका क्या प्रमाण? कहीं यह नीलमणिको शाप दे दे तो?' इस प्रकार भयभीत हुई व्रजेश्वरी गोपतरुणीकी मनुहार करने लगतीं, कमोरी भर-भरकर उसे माखन देतीं तथा जैसे-तैसे उसे प्रसन्न करके ही विश्राम लेतीं। जब वह चली जाती, तब हँसकर, अपने नीलमणिको कण्ठसे लगाकर बातें पूछतीं—

हौं बारी रे मेरे तात!
काहे कौं लाल पराए घर कौ, चोरि-चोरि दधि-माखन खात?
गहि-गहि पनि मटुकिया रीती, डरहन कें मिस आवत-जात।
करि मनुहार, कोसिबे कें डर, भरि-भरि देति जसोदा मात॥
टूटी छुरी गोद भरि ल्यावैं, फाटे चीर दिखावैं गात।
सूरदास-स्वामी की जननी, उर लगाइ हँसि पूछति बात॥

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी बात सुनकर हँस देते तथा सुधाभरी वाणीमें ऐसी-ऐसी बातें कहने लगते कि जननीका स्नेहसागर उमड़ चलता, वे उसमें बह जातीं, यह भी भूल जातीं कि अभी किस गोपीने आकर क्या कहा। इससे उनके नीलमणिको मानो एक नयी प्रेरणा मिल जाती। वास्तवमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंपर प्रतिदिन एक नया रंग चढ़ जाता। गोप-सुन्दरियाँ भी उलाहनेके लिये नयी-नयी भाषा गढ़तीं तथा नन्दभवनमें आकर श्रीकृष्णचन्द्रकी इस निर्बाध चेष्टाका ऐसा चित्रण करतीं कि व्रजरानी सब कुछ जाननेपर भी भ्रमित होने लगतीं, श्रीकृष्णचन्द्रको अपने कोटि-कोटि प्राणोंसे अधिक प्यार करनेवाली गोपसुन्दरियोंके मनमें उन्हें अतिशय उद्वेग प्रतीत होने लगता। नीलमणिको वे बार-बार समझातीं—

मेरे लाड़िले हो, तुम जाउ न कहूँ।
तेरे ही काजें गोपाल, सुनहु लाड़िले लाल,
राखे हैं भाजन भरि सुरस छहूँ॥
काहे कौं पराएँ जाइ, करत इते उपाइ,
दूध-दही-घृत अरु माखन तहूँ।
करतिं कछू न कानि, बकति हैं कटु बानि,
निपट निलज बैन बिलखि सहूँ॥
ब्रज की ढीठी गुवारि, हाट की बेचनहारि,
सकुचैं न देत गारि झगरत हूँ।
कहाँ लगि सहौं रिस, बकत भई हौं कृस,
इहिं मिस सूर स्याम-बदन चहूँ॥

पर नीलमणि तो एक नहीं सुनते थे। किसी-न-किसी गोपसुन्दरीके घर प्रतिदिन एक-न-एक नयी चेष्टा कर ही आते थे। बात यहाँतक बढ़ गयी कि एक ग्वालिनने तो आकर बड़े रोषमें व्रजरानीसे आज यहाँतक कह डाला—

अपनौ गाउँ लेउ, नँदरानी!
बड़े बाप की बेटी, पूतहि भली पढ़ावति बानी॥
सखा-भीर लै पैठत घर में, आपु खाइ तौ सहिऐ।
मैं जब चली सामुहें पकरन, तब के गुन कहा कहिऐ॥
भाजि गए दुरि देखत कतहूँ, मैं घर पौढ़ी आइ।
हरैं-हरैं बेनी गहि पाछैं, बाँधी पाटी लाइ॥

इसीलिये आज व्रजरानीने श्रीकृष्णचन्द्रपर यह कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था कि उद्यान, समीपके उपवन एवं यमुनातट—तीन स्थानोंके अतिरिक्त वे और कहीं नहीं जा सकते। मैयाने सीमा निर्धारित कर दी थी, पहरे बैठा दिये थे। श्रीकृष्णचन्द्रने भी हँसकर जननीका यह अनुशासन स्वीकार कर लिया था, सखाओंके साथ यमुना-तटपर जाकर जलमें पत्रपुट प्रवाहित करनेका खेल खेलने लगे थे, खेलते-खेलते जलमें उतर पड़े थे। भाग्यसे जननीकी दृष्टि पड़ गयी और वे दौड़कर उन्हें बाहर निकाल ले आयीं। अस्तु,

उपर्युक्त घटनापर ही यशोदारानी इस समय विचार कर रही हैं, उपाय सोच रही हैं। रह-रहकर

हृदय काँप उठता है कि अभी-अभी नीलमणिपर लगाये हुए मेरे प्रतिबन्धका कितना भीषण परिणाम हो जाता। मैया देखती हैं—'मैंने इसकी स्वच्छन्द चेष्टामें बाधा दी। फल यह हुआ कि मेरा सर्वनाश होने जा रहा था। बस, एक क्षणकी देर थी, यमुना-तरङ्गोंमें मैं अपने नीलमणिको खो देती! आह! अब मैं इसे तो कभी कुछ भी न कहूँगी। पर इन गोपियोंकी क्या व्यवस्था करूँ? इनके घर गये बिना तो यह मानता जो नहीं।' इसी उधेड़-बुनमें फँसी व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रका हाथ पकड़े प्राङ्गणमें चली आती हैं। आँगनमें अपने नेत्रोंके सामने खेलनेका आदेश देकर स्वयं अतिशय गम्भीरतासे विचार करने लगती हैं—'सचमुच मेरे इतना मना करनेपर भी नीलमणि गोपसुन्दरियोंके घर क्यों चला जाता है? क्या मेरे घरकी अपेक्षा उनके घरकी दधि-नवनीत आदि वस्तुएँ अधिक सुमिष्ट होती हैं? यहाँ तो शत-शत मनुहारके अनन्तर मैं यत्किञ्चित् नवनीत इसके मुखमें रख पाती हूँ, न जाने कितना भुलावा देनेपर यह नेक-सा दधि ओठोंपर रखता है, कितने प्रलोभनोंसे केवल कहनेमात्रके लिये दूध पी लेता है; पर गोपसुन्दरियोंके घर उनकी अनुपस्थितिमें नवनीत, दुग्ध, दधि अपहरण करके खाता है। नारायण! मेरे इष्टदेव! नाथ! तुमने मेरे नीलमणिकी ऐसी बुद्धि क्यों कर दी? देव! नीलमणि तो तुम्हारी वस्तु है न? यह ऐसा क्यों बन गया, प्रभो!—व्रजेश्वरीको आज कुछ दुःख-सा होने लगा।

कदाचित् श्रीकृष्णजननी कल्पना कर पातीं कि एक दिन मेरे इस नीलमणिने ही वैकुण्ठधाममें श्रान्त-क्लान्त भयभीत दुर्वासाको प्रबोध देते हुए नारायणरूपसे यह घोषणा की थी—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं महां साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६८)

'ब्राह्मणदेव! सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होकर भी मैं अपने भक्तोंके तो सर्वथा अधीन हूँ; उनके सामने मेरी स्वतन्त्रता नहीं है। कपटकी छायासे भी शून्य, सरलमति भक्तोंने मेरे हृदयपर सदा अधिकार कर रखा है। मेरे प्यारके विषय एकमात्र वे हैं, उनके प्यारका विषय एकमात्र मैं हूँ। उनका एकमात्र अवलम्बन मैं ही हूँ। साधुस्वभाव उन भक्तोंको छोड़कर तो मैं अपने-आपको भी नहीं चाहता। उनके बिना मेरी नित्यसङ्गिनी रमाकी भी मुझे इच्छा नहीं है। जिन्होंने स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक, परलोक—सर्वस्व विसर्जन कर एकमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण किया है, उन्हें त्यागनेका संकल्प मैं कैसे करूँ? उनका हृदय केवल मुझसे ही बँधा होता है। सर्वत्र समान भावसे एकमात्र मेरा ही दर्शन वे करते हैं। जैसे सती स्त्री पातिव्रत्यके द्वारा अपने सत्पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही विशुद्ध प्रेमसे वे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरी विशुद्ध सेवा ही उनके जीवनका परम लक्ष्य होता है। मेरी सेवा प्राप्त करनेमें ही वे पूर्णताका अनुभव करते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप चतुर्विध मुक्तियाँ उनके सामने आती हैं, पर उन्हें इनकी चाह कहाँ। जब इनके प्रति उनकी ऐसी उपेक्षा है, तब काल पाकर विनष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है। वे सरलमति भक्त मेरे हृदय हैं और उन साधु भक्तोंका हृदय मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त अन्य और कुछ भी नहीं जानते एवं मैं उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता।'

यदि यशोदारानीको अपने नीलमणिके उपर्युक्त स्वभावका पता होता, साथ ही गोपसुन्दरियोंके हृदयकी दशा वे जानती होतीं तो यह रहस्य भी जान लेतीं कि उनके नीलमणि ऐसे क्यों बन गये हैं। व्रजेन्द्रगेहिनीकी चित्तभूमिपर न तो कभी श्रीकृष्णचन्द्रका असमोर्द्ध ऐश्वर्य, अप्रतिम प्रेमपरवशता उदय होती है और न वे उलाहना देनेवाली व्रजतरुणियोंके मनोगत भावोंको ही ठीक-ठीक जान पाती हैं। गोपसुन्दरियोंकी दशा तो यह है—क्या वृद्धा, क्या युवती, सबके मन-प्राणोंमें एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र भर गये हैं। अधिकांश समय तो वे सब अपने-आपको भूली-सी रहती हैं। पति सामने खड़े हैं, पर उन्हें भान नहीं; वे तो देख रही हैं—श्रीकृष्णचन्द्र नवनीत भोजन करते हुए हमारी ओर आ रहे हैं। पुत्र उनसे भोजन माँग रहा है, पर उन्हें अनुभव हो रहा है—यशोदानन्दन आये हैं, मुझसे नवनीतकी याचना कर रहे हैं। उन्हें प्रतीत होता है कि मरकतरचित गृह, सुवर्णाच्छादन (सोनेकी छत), प्रवालस्तम्भ, स्फटिक-वेष्टनी (खंभेका गोल अंश), वैदूर्यगृहचूड़ा, महानीलकान्तमणिरचित अट्टालिका, पद्मरागनिर्मित द्वार—इनपर सर्वत्र श्रीकृष्णचन्द्रके चित्र अङ्कित हैं। गुरुजन सामने आते हैं, उन्हें अनुभव होता है—श्रीकृष्णचन्द्र अपने करपल्लवके संकेतसे हमें बुला रहे हैं। श्रीकृष्णके रूपके अतिरिक्त उनके नेत्रोंमें अन्य रूप नहीं, उनके सुधास्रावी शब्दोंके अतिरिक्त कर्णरन्ध्रोंमें अन्य शब्द नहीं प्रवेश करते। कुछ भी स्पर्श होते ही त्वक् श्रीकृष्णस्पर्शका अनुभव करती है, घ्राणमें श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंका ही सुवास उन्हें मिलता है। भोजन हमने कब किया, इसकी तो स्मृति ही उन्हें नहीं होती। यह आवेश जब अत्यन्त प्रगाढ़ होता है, तब तो वे पूर्ण विक्षिप्त-सी हो जाती हैं। शिथिल होनेपर भी उनकी दशा विचित्र ही रहती है। निद्रा तो उन सबकी प्रायः विलुप्त ही हो गयी है। मध्यरात्रिके समय शय्यासे वे उठ पड़ती हैं। उनमें कोई दधिमन्थन करके सुन्दर सुनिष्ट नवनीत सजाकर रख देती है। कभी बाहर जाकर प्रतीक्षा करती है। कभी अन्तर्गृहमें ही अपनेको छिपाकर उनके आनेका अनुसंधान लेती है। कल आये, दो दिन पूर्व आये थे, आज भी आ सकते हैं—इस आशासे नवनीत-भंडारका द्वार पहलेसे ही उन्मुक्त कर देती है। जब पहर दिनतक श्रीकृष्णचन्द्र नहीं आते तो उस सद्योमथित माखनको स्वयं भूमिपर बिखेर देती है। जिसे श्रीकृष्णचन्द्रने स्वीकार नहीं किया, उस नवनीतको संचित करके क्या करना है। दूसरी एक नवतरुणी सुन्दर-से-सुन्दर साड़ी निकालती है, सर्वोत्तम चूड़ियाँ पहन लेती है तथा आकुल प्राणोंसे व्रजेन्द्रनन्दनकी बाट देखती रहती है—'कल तो श्रीकृष्णचन्द्र पासके गृहमें ही आये थे, गोपसुन्दरी उन्हें पकड़ने गयी थी, उसकी चूड़ियाँ उन्होंने तोड़ दीं, परिधान छिन्न-भिन्न कर दिया; मेरे घर ही आज आते हों तो क्या पता। विधाता! मेरा भी कोई ऐसा पुण्य उदय होगा क्या?' परंतु जब दोपहर हो जाता, श्रीकृष्णचन्द्र नहीं आते तो उन सर्वोत्तम चूड़ियोंको वह स्वयं ही पत्थरसे तोड़कर पासके सरोवरमें फेंक देती है। उस बहुमूल्य परिधानको दो-दो अङ्गुलके टुकड़ोंमें परिणत कर राखके ढेरपर डाल आती है। अपनी उन्हीं पुरानी चूड़ियोंको, पुरानी साड़ीको पहन लेती है। उसके नेत्रोंसे अश्रुके दो बिन्दु ढलक पड़ते हैं। इस प्रकार अगणित गोप-सुन्दरियाँ हैं, उनके अगणित सरस मनोरथ हैं। प्रत्येक गोपी अपना सर्वस्व समर्पणकर, नहीं-नहीं, श्रीकृष्णसे भिन्न अन्य सब कुछ विस्मृत होकर, क्षणभर पूर्व अपने किये हुए मनोरथतककी स्मृति मिटाकर उनमें तन्मय हो रही है। जब बाह्यज्ञान होता है, उस समय भी उसके श्रीकृष्णमय हृदयमें एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखकी इच्छाका ही उन्मेष होता है। अब भला, ऐसी अतुलप्रेमधनमूर्ति व्रजपुरसुन्दरियोंके अधीन श्रीकृष्णचन्द्र न रहें, यह कभी सम्भव है? इन गोपरामाओंके प्रेम-रस-भावित मनोरथ, श्रीकृष्णसुखेच्छामयी अभिलाषाएँ अपूर्ण रह जायँ,—यह श्रीकृष्णचन्द्र सह सकते हैं? इनके लिये

अपनी सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता मिटाकर इन्हें अपना सर्वस्व अर्पण किये बिना क्या वे विश्राम ले सकते हैं? नहीं, यह तो असम्भव है; किंतु व्रजेश्वरी अपने नीलमणिके ऐसे अनुपम प्रेमपरवश स्वभावसे एवं गोपसुन्दरियोंकी ऐसी अनिर्वचनीय स्थितिसे परिचित नहीं हैं। वात्सल्यरसघनमूर्ति मैया स्वयं रससिन्धुके अतलतलमें डूबती-उतराती रहती हैं, स्वयं निरन्तर भ्रान्त रहती हैं; उन्हें इसका परिचय हो भी तो कैसे हो। वे तो, बस, नीलमणिको अपने उदरसे उत्पन्न पुत्रमात्र जानती हैं, गोपसुन्दरियोंको जैसी ऊपर देखती हैं, वैसी ही भीतर भी मानती हैं। इसीलिये वे चिन्ता कर रही हैं कि 'मेरा नीलमणि इतना अधिक चञ्चल क्यों हो गया? व्रजपुरन्ध्रियोंका कोपभाजन क्यों बन गया?'

जो हो, जननीकी चिन्ताकी छाया, श्रीकृष्णचन्द्रके चञ्चल नेत्रोंमें व्यक्त हो गयी। प्राङ्गणमें खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र खेल छोड़कर जननीके पास चले आये, चिबुक पकड़कर बोले—'मैया! तू क्या सोच रही है?' फिर जननीके कण्ठमें भुजाएँ डालकर झूलने लग गये। इसी बीचमें, न जाने कब, अघटघटनापटीयसी योगमायाने जननीके हृत्पटपर अङ्कित उस चिन्ता-बिन्दुको अपनी तूलिकासे पोंछ डाला था। वे अनुभव कर रही थीं—'ओह! कहाँ तो मेरा नीलमणि इतना सरल, इतना भोला, ऐसा नन्हा-सा और कहाँ व्रजतरुणियोंका विस्तृत वाग्जाल! इसके लिये वे कैसी-कैसी कितनी बातें गढ़ लेती हैं। अब जो वे आयीं तो मैं उन्हें अच्छी तरह डाँटूँगी।'

जननीने नीलमणिको अपने प्यारसे नहलाकर, नीलमणिके सुठाम युग्म कपोलोंपर शतसहस्र चुम्बन अङ्कितकर निर्बाध खेलनेकी अनुमति दे दी। अवश्य ही कालिन्दीतट एवं सरोवरपर जानेसे सर्वथा निषेध कर दिया। नीलमणि पिञ्जरमुक्त विहङ्गम-शावककी भाँति पुरवीथीकी ओर भाग चले।

इसके दूसरे ही दिन अरुणोदय होते-न-होते एक नवतरुणी उलाहना लेकर आ ही तो गयी। पहले भी यह कई बार आ चुकी है, किंतु इस बार तो जननी रोषमें भरकर उल्टा उसे ही सुनाने चलती हैं। वे अपने नीलमणिका शृङ्गार करनेके लिये प्रफुल्ल मालती-कुसुमोंका चयन कर रही थीं। वह स्थगितकर उसे झिड़कने लगती हैं—

(कान्ह कौं) ग्वालिनि दोष लगावति जोर।
इतनक दधि माखन कें कारन, कबहिं गयौ तेरी ओर॥
तू सौ धन-जोबन की माती, सिर उडि आवति भोर।
लाल कुँवर मेरौ कछू न जानै, तू है तरुनि किसोर॥
का पर नैन चढ़ाए डोलति, ब्रज में तिनुका तोर।
सूरदास जसुदा अनखानी, यह जीवन-धन मोर॥

स्वयं यशोदाके द्वारा दधिमन्थन तथा श्रीकृष्णका जननीको रोककर उनका स्तन्य पान करना

तारकपङ्क्ति शयनागारके गवाक्षरन्ध्रोंसे झाँककर मानो सूचना दे रही थी—'व्रजरानी! अभी तो निशा है, उषा भी नहीं आयी, किञ्चित् और विश्राम कर लो।' किंतु व्रजेश्वरी तो दूसरी धुनमें हैं। उन्हें तो अभी उठना है; अपने नीलमणिके लिये दधिमन्थन कर नवनीत जो प्रस्तुत करना है; पद्मगन्धा गायोंके दूधको औटाकर, परम सुमिष्ट बनाकर तैयार कर रखना है! नीलमणि जब उठेंगे तब सद्योमथित माखन भोजनकर, दुग्धपानकर तृप्त होंगे तथा उन्हें तृप्त देखकर यशोदारानीकी एक चिरसेवित अभिलाषा पूर्ण हो जायगी।

अबतक एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ था कि आदिसे अन्ततक, दुग्धदोहनसे आरम्भकर मन्थनतक सभी कार्य यशोदारानी स्वयं अपने हाथों करें। अगणित दास-दासियोंके प्रेमिल आग्रहके सामने व्रजेश्वरीकी एक भी नहीं चलती तथा 'मैं ही तो गोदोहन करूँ, मैं ही दुग्ध औटाऊँ, मैं ही दधिमें जोरन दूँ, मैं ही मन्थन कर माखन निकालूँ और फिर नीलमणि इसे यथेच्छ आरोग कर तृप्त हों'—उनका यह मनोरथ अपूर्ण रह जाता। इसके लिये जननी अनेक युक्तियाँ सोचतीं, परिचारिकाओंकी मनुहार करतीं, उनपर अन्य कार्यका भार सौंप देतीं तथा ऐसा करके कभी-कभी दधिमन्थन करनेका सुअवसर तो प्राप्त कर लेतीं; पर वह भी पूरा नहीं हो पाता। या तो श्रीकृष्णचन्द्र मचल उठते या कोई परिचारिका जननीके मन्थनश्रमको देखकर उनके चरण पकड़ लेती, उसपर यह सेवा सौंप देनेके लिये जननीको बाध्य कर देती। और नहीं तो श्रीरोहिणीके प्रेमके सामने यशोदारानी विवश हो ही जातीं। इस प्रकार कभी मन्थन करनेका अवसर प्राप्त करनेपर भी किसी-न-किसीका सहयोग व्रजेश्वरीको लेना ही पड़ता; किंतु आज ऐसा सुयोग बन गया है कि नन्दभवनमें केवल श्रीकृष्णचन्द्र हैं, व्रजरानी हैं; इनके अतिरिक्त और कोई नहीं।

पाँच प्रहर पूर्व व्रजेश्वर शत-सहस्र गोपोंके सहित गोवर्द्धनकी उपत्यकामें चले गये। व्रजेश्वरके पिता श्रीपर्जन्य गोपके समयसे प्रतिवर्ष होते आये मुख्य महोत्सव—इन्द्रयागकी* तिथि आ गयी थी, उसीका बृहत् आयोजन करने वे गये हैं। गत सायंकालसे पूर्व ही नन्दभवनकी समस्त परिचारिकाएँ भी यज्ञसम्बन्धी रन्धनकार्यके लिये वहाँ चली गयीं। व्रजेश्वरीकी परिचर्याके लिये कुछ रह गयी थीं; किंतु व्रजरानीने उनमेंसे भी प्रत्येकको भिन्न-भिन्न आदेश देकर वहीं भेज दिया। अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे प्रत्येक यह अनुभव कर रही थी कि केवल चार-पाँचको ही यशोदारानी आदेश देकर भेज रही हैं, शेषको अपने समीप रख लिया है। यदि उन्हें यह प्रतीत होता कि व्रजेश्वरी अकेली रह गयी हैं तो वे कदापि नहीं जातीं। इनके जानेसे कुछ क्षण पूर्व श्रीरोहिणीजी बलरामको लेकर उपनन्दके घर चली गयी थीं। उपनन्दपत्नीका अतिशय आग्रह था कि श्रीरोहिणीजी एक रात्रिके लिये भी हमारे गृह अवश्य पधारें। यशोदारानीसे चार पहरके लिये अलग होना रोहिणीजीके लिये यद्यपि अत्यन्त कठिन कार्य है, पर उपनन्दपत्नीका प्रेमनिर्बन्ध भी इतना विशुद्ध—इतना प्रबल था कि बलराम-जननीको झुकना ही पड़ा। गृहकार्यकी व्यवस्था दासियोंको भलीभाँति समझा-बुझाकर यशोदारानी एवं यशोदानन्दनके पास ही अपना मन रखकर रातभरके लिये वे चली गयीं। इस प्रकार स्वयं सब कुछ अपने हाथोंसे सँवारकर श्रीकृष्णचन्द्रको तृप्त करनेकी लालसा—जननीकी चिरपोषित अभिलाषाकी पूर्तिका सुयोग घट गया। सबके चले जानेपर एकाकिनी व्रजमहिषीने कितनी उमंगसे पद्मगन्धा गौओंका दोहन किया है, सर्वथा नवीन पात्रमें दुग्ध-संचय कर उसे औटाया है, जोरन देकर दही जमाया है; यह करके नीलमणिको वक्षःस्थलपर धारणकर कितनी उत्कण्ठासे निशा ढल जानेकी प्रतीक्षा करती रही हैं, चिदानन्दमयी निद्राका आवरण डालकर सारी रात किस सुख-समुद्रमें संतरण

* अपने आठवें वर्षकी लीलामें श्रीकृष्णचन्द्र इसी इन्द्रयागको गोवर्द्धनपूजाका रूप देंगे।

करती रही हैं—इसकी कल्पना किसे हो सकती है। किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे जिस बड़भागीके अन्तस्तलमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी साक्षात् सेवा पानेकी अदम्य लालसा जाग उठे, अनन्त वर्षोंकी प्रतीक्षाके उपरान्त इस लालसाके फलस्वरूप स्वप्नमें भी क्षणभरके लिये श्रीकृष्णपादारविन्दमें सेवा समर्पित करनेका सुअवसर प्राप्त हो जाय, उसे ही यत्किञ्चित् कल्पना होनी सम्भव है कि यशोदारानीका वह आनन्द कैसा है, उनकी उत्कण्ठा कैसी है! अस्तु, अतिकाल न हो जाय, इस भावनासे व्रजरानी, रजनीका अवसान होनेमें पर्याप्त विलम्ब रहनेपर भी शय्याका परित्याग करने चलीं। साथ ही भय था कि वक्षःस्थलपर सोये हुए नीलमणिकी कहीं निद्रा भङ्ग न हो जाय; नीलमणिकी नींद टूट गयी तब फिर तो यह स्वर्णसुयोग हाथसे गया। अतः बड़ी सावधानीसे अपने अङ्गोंको धीरे-धीरे समेटने लगीं। क्रमशः श्रीकृष्णचन्द्रके निद्रावेशसे अलसाये श्यामल अङ्गोंको अपने अङ्गोंसे विलगकर, उस कर्पूर-धवल सुकोमलतम शय्यापर रखकर मन्द-मन्द थपकी देने लगीं। जब पुनः नीलमणिका निद्रावेश पूर्ववत् हो गया, तब वे पर्यङ्कसे धीरे-धीरे नीचे उतर आयीं!

व्रजरानीकी दृष्टि शयनकक्षके दीपकी ओर गयी। दीपकी लौ किञ्चित् हिल रही थी; मानो सारी रात निष्पन्द रहकर वह जननीके उर-हार नीलमणिकी शोभा निहारती रही है, किंतु जब जननीने नीलमणिको वक्षःस्थलसे उतारकर शय्यापर सुला दिया, तब व्याकुल हो उठी है, सिर हिला-हिलाकर प्रतिवाद कर रही है—'नहीं-नहीं, नन्दगेहिनी! ऐसे मृदुल अङ्गोंको शय्यापर मत रखो, इनके उपयुक्त स्थान तो तुम्हारा हृदेश ही है।' यशोदारानी दीपके निकट चली जाती हैं। समीपमें रखी हुई स्वर्ण-शलाकासे लौको किञ्चित् ऊपर उठा देती हैं, लौ पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक उज्ज्वल मञ्जुल ज्योति बिखेरने लगती है। जननी दीपको हाथपर उठा लेती हैं, लेकर निद्रित नीलमणिके समीप चली आती हैं। इसके निर्मल आलोकमें पहले पुत्रको ललाटसे चरणपर्यन्त निहारकर, फिर अपने युग्म हस्ततलपर दीपको स्थापितकर श्रीकृष्णमुखारविन्दके सम्मुख इसे (दीपको) तीन बार घुमाती हैं। यह करके फिर लौके अग्र-भागपर सञ्चित किञ्चित् काजलको वाम तर्जनी एवं अङ्गुष्ठके सहारे लेकर इसीसे नीलमणिके भ्रूमध्यपर श्याम तिलक लगा देती हैं। श्रीनिवास श्रीकृष्णचन्द्रके भालपर लगे उस श्यामबिन्दुकी शोभा निहारनेपर जननीका रोम-रोम पुलकित होने लगता है। श्यामबिन्दुकी शोभा भी निराली ही है; मानो यशोदाके करकमलसे छूटकर एक मत्त मिलिन्द नीलाम्बुजदलपर जा गिरा हो और गिरते ही पूर्वकी अपेक्षा भी मधुरतर परागका आस्वाद पाकर तत्क्षण वहीं अचेत हो गया हो।

जननी अपने नीलमणिका सौन्दर्य निहारनेमें तन्मय हो गयीं; किंतु कुछ ही क्षण पश्चात् मानो किसीने स्मरण करा दिया हो, इस प्रकार उन्हें अपने कर्तव्यकी स्मृति हो आयी। मैयाने धीरे-धीरे कक्षका प्रमुख द्वार खोला और बाहर अलिन्दमें चली आयीं। अतिशय शीघ्रतासे अपने हाथ-पैर धोये। फिर वस्त्र-परिवर्तन करने चलीं। रात्रिमें धारण किये हुए सभी वस्त्रोंको उतारकर नवीन पीतवर्ण क्षौम वस्त्र धारण किये, सुचित्रित घाघरा धारण किया, कञ्चुकी धारण की तथा सिरको विविध चित्रावली-परिशोभित ओढ़नीसे ढक लिया। मन्थनके समय कटिदेशसे वस्त्र स्खलित न हो जाय, इसलिये काञ्ची धारणकर घाघरेको और भी सुदृढ़ बना लिया। यह करके फिर ऐसे स्थानपर मथानीको स्थापित किया, जहाँसे वे कोष्ठमें विराजित नीलमणिको निरन्तर देखती रह सकें। साथ ही कुछ ही दूरपर पार्श्ववर्ती कोष्ठके एक चूल्हेमें अग्नि प्रज्वलित करके उसपर दूधका पात्र रख दिया, जिससे श्रीकृष्णके उठनेतक दूध भी औटकर मधुर बन जाय। यह चूल्हा भी ऐसे स्थानपर है, जिसे जननी मन्थन करते समय निरन्तर देखती रह सकें। इस प्रकार सारी व्यवस्था करके यशोदारानी दधिमन्थन आरम्भ करने चलती हैं। आज कोई दासी नहीं, जो मैयाके इस सौभाग्यमें हिस्सा बँटाने आये। सबपर विविध कार्य-भार सौंपकर वे उन्हें यहाँसे बहुत दूर, बहुत पहले भेज चुकी हैं। आज कोई विघ्न नहीं है। जननी परमानन्दमें

डूबती-उतराती दधिमन्थन करने लगती हैं—

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १)

मन्थन आरम्भ होते ही श्रीकृष्णजननीमें प्रेमावेश भी आरम्भ हुआ। आजतक यशोदानन्दनने जितनी लीलाएँ की हैं, सब-की-सब व्रजरानीके हृदय-मन्दिरमें अङ्कित हैं; क्रमशः इनका द्वार खुलने लगा, जननीके स्मृतिपथमें ये लीलाएँ उदय होने लगीं, हृदयमें रससिन्धु उमड़ने लगा किंतु वह वहीं रुद्ध रह सके, मसृण हृत्प्रदेशमें इतना स्थान कहाँ। अतः उच्छलित होकर यह रसधारा गीतके रूपमें व्रजेश्वरीके मुखसे निस्सृत होने लगी। मन्थनकी ध्वनिमें मिले हुए कण्ठसे व्रजरानी अपने नीलमणिके विविध चरित्रोंका सुमधुर गान करने लगीं—

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २)

व्रजेश्वरी हाथोंसे तो अपने प्राणाराम नीलमणिके लिये नवनीत प्रस्तुत कर रही हैं, मुखसे नीलमणिकी रसमयी बाललीलाका गान कर रही हैं तथा उनकी चित्तभूमिपर इन विविध लीलाओंके अनुरूप क्षण-क्षणमें नव-नव वेशसे विभूषित होते हुए नीलमणि नृत्य कर रहे हैं। इस प्रकार वे श्रीकृष्णचन्द्रमें कायमनोवाक्यसे तन्मय हो रही हैं। इस तन्मयताने क्रमशः जननीकी यह स्मृति भी प्रायः हर ली कि नीलमणि अभी तो पर्यङ्कपर सो रहे हैं, उनकी निद्रामें व्याघात न हो। अब तो उनकी भावनामें नीलमणि रह-रहकर उनके सामने आ जाते हैं। इसीलिये मुक्तकण्ठसे वे गाने लगती हैं—

गोकुलपतिकुलतिलकं त्वमसीह।
कृतसुकृतव्रजचरितसुखव्रजनयनानन्दिसमीह!

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! तू तो व्रजराजकुलका तिलक है। अरे! तूने एक-से-एक बढ़कर परम मनोहर, सुन्दर, पवित्र लीलाएँ यहाँ की हैं। ओह! उन्हें निहारकर व्रजवासी सुखमें डूबे हुए हैं। लीला-सुख देकर तू सदा व्रजवासियोंका आनन्दवर्द्धन करता है।'

जननीके हृत्पटपर जब कभी जन्ममहोत्सवकी झाँकी झलक उठती है, उस समय वे अपने नीलमणिका एक वैसा ही नाम रखकर पुकार उठती हैं—

आनन्दोद्भवजन्ममहोत्सवनन्दितगोपसमाज!

(श्रीगोपालचम्पूः)

—तथा फिर अत्यन्त ललित स्वरमें स्वयं जन्ममहोत्सवका भी विस्तृत वर्णन करने लगती हैं—

द्वार सुबरन बने बँध तोरन घने,
उच्च प्रासाद ग्रह केतु डोलैं।
सूत-चारन, तहाँ पढ़त मागध जहाँ,
बिरद बिरदैत बंदीय बोलैं॥
अजिर सुचि सौं सच्यौ, छिरकि सौरभ रच्यो,
बिसद करि कुंभ, मनि चौक पूरे।
खंभ कदली हरे, हरद अच्छत भरे,
कनक मनि-जटित कल कलस रूरे॥
गुरु जननि दै मान, कुल जननि सुख मान,
ग्रह काज अगिवानि करि, आनि राखैं।
तहँ दुजनि कौं बूझि, विधि सुरनि कौं पूजि,
परि पाँइ जहँ बिनय बैन भाखैं॥
सुभ बेद उच्चार, कुलरीति साचार,
पुनि लोक विधि कर्म करि धर्म नाथैं।
करि सजन ब्यौहार, लै मित्र उपहार,
भरि प्रीति के भार डर रीति साथैं॥
तहँ नंद-उपनंद गोपीन के वृंद,
मिलि ग्वाल आनंद रस रंग भूले।
करि उरनि में ऊब, लै फूल-दधि-दूब,
मन माल कुसुमाल पट पहरि फूले॥
बरहीन के पच्छ धारे छबी स्वच्छ,
भ्रम भरे गति लच्छ तहँ धरनि खूदैं।
दधि परस्पर खेलि, तन लेपि, मुख मेलि,
भुज भुजनि सों झेलि पग उच्च कूदैं॥
छबि ग्वाल जगमगे, गिरि धातु तन रँगे,
उर प्रेम सौं पगे तहँ फिरत चाँडे।

ललित रोचन महाँ, कलित केसरि तहाँ,
बलित गोबृष भगहिं सृंग माँडे॥
जहँ नृत्य करि गान, भरि तान दै मान,
सुखदानि ललनादिके जूह भाजैं॥
कटि किंकिनी कनक, मंजीर धुनि झनक,
कर कंकननि खनक मिलि बलय बाजैं॥
पनव बीना सजैं, संख भेरी बजैं,
दुंदुभी गरज घन घटा गाजैं।
मुरज लरजैं धली, सुरनि जंत्रनि मिलीं,
गुनी गन भ्रमित गुन गूढ़ राजैं॥
जहँ हीरमनि माल दै, चीर मुकतालि दै,
जाचकनि दान दै, अचक कीन्हैं।
तिलनि गिरि हेम दै राजत गिरि धेनु दै,
ऊसही खरिक लै छिरकि दीन्हैं॥

पूतना-उद्धार, शकट-भञ्जन आदि समस्त लीलाओंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी जिस-जिस माधुरीका विकास हुआ है, इन सबका वर्णन भी मैया अपने गीतमें करती हैं। अपने नीलमणिके मधुर रिङ्गण, विविध क्रीडन, नर्तन, गोवत्सपुच्छ-धारणका भी गीत गाती हैं। नीलमणिकी नवनीतहरण-लीलाका भी अत्यन्त सुन्दर चित्रण करती हैं।

दधिमन्थनके समय मैयाके श्रीअङ्गोंकी शोभा भी देखने ही योग्य है। उनके स्थूल कटिदेशमें सुकोमल क्षौम (रेशमी)-तन्तुओंसे निर्मित रेशम-डोरीमें बँधा लहँगा सुशोभित है। श्रीकृष्णचन्द्रके लीलागानसे, एकतान होनेवाली मधुरातिमधुर श्रीकृष्णस्मृतिसे वात्सल्य-स्नेहसिन्धुके उद्वेलित हो जानेसे उद्वेलित होकर जननीके दोनों स्तनोंसे दूध झर रहा है। साथ ही वे प्रकम्पित भी हो रहे हैं। मन्थनदण्डमें लगी नेतीके अविराम चलाते रहनेसे भुजाएँ श्रान्त होती जा रही हैं; हाथोंको अलंकृत करनेवाले कङ्कण, कानोंको विभूषित करनेवाले कुण्डलयुग्म भी अतिशय चञ्चल हो रहे हैं। श्रमके कारण—नहीं-नहीं, प्रेमावेशके कारण प्रस्वेदकण भालपर, कपोलोंपर, चिबुकपर झलमल कर रहे हैं। अङ्गोंमें निरन्तर गति रहनेसे अञ्चल सिरसे नीचे उतर आया है, वेणी-बन्धन भी शिथिल हो गया है, वेणीमें ग्रथित मालती-पुष्प झरने लगे हैं, झर-झरकर चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, मानो कबरीके ये पुष्प व्रजरानीके चरणोंमें गिरकर प्रपञ्चगत जीवोंके लिये एक सत्य सिद्धान्तका संकेत कर रहे हों—जो अभी एक क्षण पहले किसीके मस्तकपर आसीन था, वह, श्रीकृष्णचन्द्रमें उसके तन्मय होते ही चरणोंका आश्रय लेने लगता है—इस परम सत्यको प्रकाशित कर रहे हों। प्रेमावेशके कारण जननीका बाह्यज्ञान यद्यपि लुप्तप्राय हो रहा है, तथापि अन्तश्चेतनामें श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत खिलानेकी, दुग्धपान करानेकी वासना तो चिर जाग्रत् है; निद्रित नीलमणिको शयनागारमें छोड़ आयी हूँ, यह संस्कार भी सर्वथा बना है; अतः मन्थनक्रियामें कोई भी व्यतिक्रम नहीं; साथ ही अन्तरके संस्कारोंकी प्रेरणासे जननी रह-रहकर कभी तो दूधके औटनेके स्थानपर और कभी शयनपर्यङ्कपर—दोनों ओर दृष्टि डालकर देख लेती हैं; इस क्षण-क्षणके दृष्टिसंचालनसे जननीके भ्रू-युगल अतिशय बङ्किम बन गये हैं, बड़े ही सुन्दर दीख रहे हैं। इस प्रकार वात्सल्यमहोदधि व्रजेश्वरी एक चञ्चल सौन्दर्य-प्रतिमा-सी बनकर मन्थन कर रही हैं—

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। ३)

रजु खैंचति भुज धारि, भार मचकत भुज बेनी।
रुरत बुरत उरहार, झरत सुमननिकी श्रेनी॥
चंचल करनाभरन कनक कंकन कर खनकत।
श्रमजल झलकत चलत अंग भूषन छबि झलकत॥
घाघर घुमंडि झूमत झहरि, उड़तु सुपट, फहरति लहरि।
घन गरज घमंडत माट दधि यमयमातु धमकतु घहरि॥

रजनी समाप्त हो गयी, उषा भी आकर चली गयी, अरुणोदय भी हो गया है; किंतु जननीको समयका ज्ञान नहीं है। वे तो मन्थनमें, लीलागानमें, लीलादर्शनमें तन्मय हो रही हैं। उधर शयनागारमें श्रीकृष्णचन्द्रकी निद्रा भी भङ्ग हो चुकी है, वे 'मैया-मैया' की पुकार लगा रहे हैं। पर मैया तो सुनतीं ही नहीं। और

दिन तो बार-बार मनुहार करके निद्रित नीलमणिको मैया जगाती—

जागौ जागौ हो गोपाल।
नाहिन इतौ सोइयत, सुनि, सुत! प्रात परम सुचि काल॥

पर आज नीलमणि ही मैयाको भावसमाधिसे जगाना चाहते हैं और मैया जागती नहीं। इस प्रकार जब बारंबार पुकारनेपर भी जननीकी ओरसे कोई उत्तर न मिला तो श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं ही शय्यासे उतर पड़े एवं जननीके निकट चले आये—

दीर्घश्वासं गात्रमोटप्रयुक्तं नेत्रे मार्जञ् जाग्रदम्बेति जल्पन्।
क्रन्दन्मन्थध्वानमाकर्ण्य बालः श्रीगोपालः प्रस्खलंस्तां जगाम॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'नासाविवरसे दीर्घ श्वास आ रहा है, अँगड़ाई ले रहे हैं, आँखें मल रहे हैं, जागते ही 'माँ-माँ' रटने लगे हैं, मन्द-मन्द क्रन्दन भी कर रहे हैं; किंतु कोई प्रत्युत्तर नहीं। अन्तमें मन्थन-ध्वनिको सुननेसे मैया कहाँ है, यह पता लग जानेपर स्खलित गतिसे वे बालगोपाल जननीके पास चले गये।'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीके पृष्ठदेशके समीप जाकर खड़े हो गये। एक हाथ मैयाकी ग्रीवामें डालकर दूसरेसे चिबुक स्पर्श करके बोले—'री मैया! तू तो सुनती ही नहीं! देख, मुझे कितनी भूख लगी है; तू मुझे दूध पिला दे।' यह सुननेपर फिर कहीं जननीमें उपयुक्त चेतना आती है। पर एक बार तो भ्रमित हो ही गयीं कि यह सत्य है या वह (मनोराज्य)? अवश्य ही निर्णय होनेमें विलम्ब न हुआ; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र उनके कण्ठमें अपनी भुजा डालकर गोदमें ले लेनेके लिये, मन्थन स्थगित कर देनेके लिये बार-बार क्रन्दनमिश्रित स्वरमें कह रहे थे। जननी अबतक जिस सुखमें तल्लीन थीं, उससे कोटि-कोटि-गुणित अधिक परमानन्दसागरमें निमग्न होने लगीं। साथ ही नीलमणिको नवनीत भोजन कराना है, यह स्मृति भी मनमें उदय हो आयी। मैयाने दधि-भाण्डमें झाँककर देखा। दीखा—नवनीत संतरण करने लगा है, आठ-दस-बार नेती और भले ही घुमा दूँ। जननी नीलमणिके कपोलपर चुम्बन अङ्कितकर बोलीं—'मेरे लाल! देख, कितना सुन्दर माखन आया है; मैं तुझे अभी-अभी दूध पिलाऊँगी, ताजा माखन खिलाऊँगी·····।' कहकर मैयाने नेती एक बार और घुमा दी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र धैर्य खो बैठे। उनके अधर प्रस्फुरित होने लगे; इतना ही नहीं, उन्होंने हाथोंसे मन्थनदण्डको पकड़ लिया। 'नहीं-नहीं, मन्थन करना छोड़ दे।' कहकर वे मचल उठे। पुत्रकी इस चेष्टाको देखकर जननीके अङ्ग तो प्रेमातिरेकसे अवश होने लग गये—

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ४)

एक बार जननीने फिर चेष्टा की, कदाचित् नीलमणि इस बार मान जाय!—

नंदजू के बारे कान्ह, छाँडि दै मथनियाँ।
बार-बार कहति मातु जसुमति नँदरनियाँ॥
नैकु रहौ, माखन देउँ, मेरे प्रान-धनियाँ।
आरि जनि करौ, बलि बलि जाउँ हौं निधनियाँ॥

किंतु इस बार तो श्रीकृष्णचन्द्रने नेतीको मन्थन-दण्डसे निकालकर दूर फेंक दिया तथा जननीकी गोदमें जा बैठे। प्रेमविवश जननीने भी अपने कोटि-कोटि प्राणप्रिय नीलमणिके मुखमें स्तनाग्र दे दिया। नीलमणि स्तनपान करने लगे।

जिस समय श्रीकृष्णचन्द्रने मन्थनदण्ड, दधिभाण्ड एवं नेतीको स्पर्श किया था, उस समय यशोदारानीका आनन्दसिन्धु तो उच्छलित होने लगा था, पर क्षीरसिन्धु, मन्दर एवं वासुकिके हृदय काँप उठे थे। तीनोंको अतीत सिन्धुमन्थनकी स्मृति हो आयी थी। विस्फारित नेत्रोंसे वे श्रीकृष्णचन्द्रकी यह लीला देख रहे थे; देख-देखकर आश्चर्य कर रहे थे—

जब मोहन कर गही मथानी।
परसत कर दधि, माट, नेति, चित उदधि, सैल, बासुकि भय मानी॥
कबहुँक तीनि पैग भुव मापत, कबहुँ देहरि उलँघि न जानी।
कबहुँक सुर-मुनि ध्यान न पावत, कबहुँक खिलावति नँद की रानी॥
कबहुँक अमर-खीर नहिं भावत, कबहुँक दधि-माखन रुचि मानी।
सूरदास प्रभुकी यह लीला, परति न महिमा सेष बखानी॥

स्तन्यपान-रत श्रीकृष्णको गोदसे उतारकर माताका चूल्हेपर रखे हुए दूधको सँभालना और श्रीकृष्णका रुष्ट होकर दधिभाण्डको फोड़ देना तथा नवनीतागारमें प्रविष्ट होकर कमोरीमें रखे हुए नवनीतको निकाल-निकालकर बंदरोंको लुटाना; माताको देखकर श्रीकृष्णका भागना और यशोदाका उन्हें पकड़कर बाँधनेकी चेष्टा करना

क्षीरसिन्धुके मन्थनसे सुधा निकली थी। अमरवृन्द सुधाका पान करके तृप्त हुए थे; किंतु उस सुधामें वह सर्वथा अनुपम सुस्वाद कहाँ, जो व्रजेश्वरीके स्तन्यपीयूषमें है। इसीलिये अनादिकालसे जननीका स्तन्यपान करते रहनेपर भी सच्चिदानन्द, पूर्णब्रह्म, अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको यहाँ 'अलम्' का भान नहीं हुआ; प्रत्युत उनकी यह अमृतपानकी अभिलाषा निरन्तर बढ़ती ही जा रही है, अनवरत पीते रहनेपर भी तृप्ति होती ही नहीं। आज भी वे यशोदारानीके अङ्कमें विराजित होकर स्तनसे झरती हुई वात्सल्यसुधाका रस ले रहे हैं, अपने अरुण अधरोंके बीच जननीका स्तनाग्र लेकर, दोनों करपल्लवोंसे जननीका स्तनाग्र धारण किये, अतिशय उत्कण्ठित हुए, गूँ-गूँ शब्द करते हुए दूध पी रहे हैं, पर तृप्ति नहीं। ज्यों-ज्यों पीते हैं, त्यों-ही-त्यों क्षुधा और भी बढ़ती जा रही है। जिस परिमाणमें स्तनसे दूध झरता है, मानो उससे सहस्रगुने अधिक परिमाणमें पीनेकी लालसा श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें उमड़ चलती है और यह देखकर पुनः व्रजेश्वरीकी वात्सल्यधारा भी अनन्तगुणित होकर दूधके रूपमें बहने लगती है; इससे फिर श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तन्यपानकी उत्कण्ठा बढ़ती है, इस प्रकार व्रजेश्वरीके स्तन्यदानकी एवं श्रीकृष्णचन्द्रके स्तन्यपानकी लालसामें होड़ लग रही है। मानो दोनों ही होड़ लगाकर असीमकी ओर दौड़ रहे हैं।

किंतु अचिन्त्यलीला-महाशक्तिको अब आगेकी लीला सजानी है। इसीलिये वे स्तन्यदान एवं पानकी लीलाको बीचमें ही छोड़कर आगे बढ़ जाती हैं। जाकर उस चूल्हेकी आँचको तेज कर देती हैं, जिसपर यशोदारानी अपने नीलमणिको पिलानेके लिये दूध औटा रही थीं। सहसा आँच तेज हो जानेके कारण दूध उफनने लगता है। व्रजरानी तो अपने नीलमणिको स्तन्यदान करनेमें, पुत्रके स्मितसमन्वित मुखचन्द्रकी, उसपर बिखरी कुन्तल-राशिकी शोभा निहारनेमें तन्मय हो रही थीं; पर मानो किसीने बरबस उनकी तन्मयता तोड़ दी हो, तोड़कर दृष्टि भी उस ओर फेर दी हो—इस प्रकार अचानक जननीकी दृष्टि उफनते हुए दूधपर जा पड़ती है—

फिरि मति फेरी, गृह तन हेरी।
अगिनि धरयौ तौ, पय निसरयौ तौ॥

फिर तो निमेष पड़ते-न-पड़ते जननी नीलमणिके मुखसे स्तनाग्र खींचकर उन्हें सहसा गोदसे उतारकर, वहीं भूमिपर बैठाकर दूधके समीप दौड़ पड़ती हैं। इसलिये नहीं कि जननीको नीलमणिकी अपेक्षा दूध अधिक प्यारा है; उन्हें तो यह चिन्ता लग रही थी कि यदि यह उफनकर चूल्हेमें गिर गया तो फिर पद्मगन्धा गौओंका परम सुमिष्ट दूध मैं आज नीलमणिको नहीं पिला सकूँगी। विशुद्ध प्रेमका यह भी एक स्वभाव है कि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके

लिये प्रेमास्पदके संयोगसे प्राप्त होनेवाले अपने सुखका भी सहर्ष त्याग कर देता है। वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीको श्रीकृष्णचन्द्रके स्पर्शसे कितना-कैसा सुख होता है, यह प्राकृत मनकी कल्पनामें समा ही नहीं सकता। अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र सहस्र-सहस्र वर्षोंकी साधनाके उपरान्त केवल ध्यानमें, क्षणभरके लिये जिनका स्पर्श-सुख पाकर सदाके लिये आनन्दमत्त हो जाते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष अपने वक्षःस्थलपर धारणकर स्तन्य पिलाते समय व्रजेश्वरी किस परमानन्द-सिन्धुमें निमग्न हो जाती होंगी—यह जड मन-बुद्धिके आकलनमें आनेवाली वस्तु नहीं है; किंतु अपने ऐसे अप्रतिम सुखका भी जननी नीलमणिके सुखके लिये त्याग कर देती हैं। जननीकी धारणा यह है—'मेरे स्तनदूधकी अपेक्षा इस पद्मसौरभवाले दूधमें अधिक जीवनी शक्ति है, इसकी तुलनामें वह अत्यधिक सुमिष्ट है, उसके पानसे मेरे नीलमणिके अङ्ग अधिक सुपुष्ट होंगे, मेरा नीलमणि उसे पीकर अधिक तृप्त होगा; पर वही दूध उफनकर नष्ट जो हो रहा है।' मैया इसे कैसे सहन कर सकती है? मैयाके लिये नीलमणिकी तृप्ति, नीलमणिका मङ्गल अपने सुखकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् है। उन सुखके जानेसे नीलमणिकी तृप्ति होती हो, मङ्गल होता हो, नीलमणिके सुखकी सम्भावना दीखती हो, तो मैया इसके लिये सदा प्रस्तुत हैं। उन्हें यह भावना नहीं करनी पड़ती, उनका तो यह चिरंतन स्वभाव है; अवसर उपस्थित होते ही प्रेमका यह स्वभाव उनकी चेष्टामें व्यक्त हो जाता है। इसीलिये वे आज भी नीलमणिको छोड़कर दूधकी रक्षा करने चली गयीं। अस्तु!

इधर श्रीकृष्णचन्द्र रूठ गये। जननी यद्यपि जाते समय कह गयी थीं—

वत्स! निर्मञ्छनं भजामि, क्षणं तावन्मन्थनगर्गरी रक्ष्यतां त्वदीयं पयो वीक्ष्य यावद् द्रुतमायामीति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! बलिहारी जाऊँ। देख, तेरे दूधको सँभालकर मैं तुरंत आ रही हूँ। तबतक तू इस मन्थनभाण्डकी रक्षा करते रहना, भला!'

पर इससे उन्हें संतोष क्यों होने लगा! 'मैया मुझे क्षुधित—अतृप्त छोड़कर क्यों चली गयी? साथ क्यों नहीं ले गयी? उन्हें तो इस बातका दुःख है। यही दुःख रोषमें परिणत हो गया। अरुण अधर-ओष्ठ प्रस्फुरित होने लगे, नेत्रोंमें अश्रु भर आये, भृकुटि और भी वङ्किम हो गयी। दाँतोंसे अधरको दबाकर रोषभरी दृष्टिसे वे इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा—जननी तो अँगीठीके समीप, उस ओर मुख किये दूधकी सँभालमें व्यस्त है। फिर तो रोष और बढ़ा। मन्थनभाण्डका मुँह पकड़कर वे उसे उलट देनेकी चेष्टा करने लगे। पर आज श्रीकृष्णचन्द्रमें इतना बल कहाँ जो यशोदारानीके हाथोंसे स्थापित दधिपूरित भाण्डको वे उलटा दे सकें। उलटना दूर, भाण्ड हिलातक नहीं। वे दाँत पीसकर पीछेकी ओर ताकने लगे। इतनेमें पास पड़े हुए एक शिलाखण्ड (लोढ़े)-पर दृष्टि पड़ गयी। बस, साधन मिल गया। लपककर उन्होंने लोढ़ेको हाथमें ले लिया और चले आये मन्थनभाण्डके समीप। एक बार पुनः देखा—जननीने इस ओर ताका या नहीं; किंतु जननी तो अभी भी उसीमें उलझी हुई थीं। अब तो श्रीकृष्णचन्द्रके लिये धैर्यकी सीमा आ गयी थी, जननीका यह व्यवहार असह्य हो गया था। उन्होंने लोढ़ेसे मन्थनभाण्डके ऊपरी भागपर एक प्रहार किया। खन्-खन् ध्वनि हुई, पर भाण्ड फूटा नहीं। साथ ही श्रीकृष्णचन्द्रका क्रोध किञ्चित् शिथिल पड़ गया; क्योंकि उन्हें भय होने लगा—'कहीं जननीने यह खन्-खन् ध्वनि सुन ली होगी तो?' उन्होंने भयमिश्रित नेत्रोंसे जननीकी ओर देखा; किंतु संयोगकी बात! जननी उसी प्रकार अभी भी दूधकी सँभालमें संलग्न थीं। यह देखकर श्रीकृष्णचन्द्रका भय तो जाता रहा, पर क्रोध द्विगुणित हो गया। इस बार उन्होंने पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक वेगसे लोढ़ेको मन्थनभाण्डके तल देशसे टकरा दिया। फिर

क्या था—चोटके अनुरूप ही भाण्डमें छिद्र हो गया; दहीकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके भी उल्लासकी सीमा न रही।

पर अब यहाँ रहना निरापद नहीं—बाल्यलीला-विहारी यह भी जान गये। मानो नन्दप्रासादके वास्तुदेवने उनके कानोंमें यह कह दिया हो—'यशोदाके नीलमणि! जानते हो, यह भाण्ड तुम्हारी पितामही वरीयसीके समयसे सुरक्षित आ रहा था। उसे फोड़कर तुमने अक्षम्य अपराध किया है, इसका दण्ड जननी तुम्हें अवश्य देंगी, यहाँसे शीघ्र जाकर कहीं छिप जाओ।' इस प्रकार किसीके द्वारा निर्दिष्ट हुए-से वे भाग चले, द्रुतगतिसे अलिन्दको लाँघकर स्तम्भोंकी ओटमें चले गये; फिर वहाँसे मृदु-मृदु चलकर नवनीतभंडारके समीप जा पहुँचे। भंडारके इस सम्मुखवर्ती द्वारकी साँकल खुली थी। बस, और क्या चाहिये; इससे सुन्दर छिपनेका स्थान और कौन-सा होगा? श्रीकृष्णचन्द्र द्वार खोलकर भीतर प्रवेश कर गये। भीतर जाकर पुनः इस द्वार-कपाटको तो ज्यों-का-त्यों बंद कर दिया तथा भंडारमें उद्यानकी ओर जो द्वार खुलता था, उसे खोल लिया। उन्हें दीखा—नवनीतसे भंडार भरा है, छींकोंपर सजा-सजाकर माखनसे भरे अगणित भाण्ड रखे हैं। यह वह भंडार है, जिसमें व्रजेशके इष्टदेव श्रीनारायणके भोगके लिये और अतिथि-सत्कारके लिये अतिशय पवित्र माखन सुरक्षित रहता है। ऐसे भंडारका एकच्छत्र राज्य पाकर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दमें निमग्न हो गये। गोपसुन्दरियोंके घर जाकर उनके भंडारमें स्वच्छन्द क्रीड़ा करनेका अवसर तो अनेक बार मिल चुका है, पर अपने भंडारमें प्रवेश पा लेनेका यह सुयोग आज प्रथम बार उन्हें मिला है। वे फूले नहीं समाते। अस्तु,

जब इतनी लीला हो चुकती है, तब कहीं जाकर व्रजरानीका कार्य समाप्त हो पाता है। सुपक्व दूधको अँगीठीसे उतारकर वे पुनः मन्थनस्थानके समीप आती हैं। आकर देखती हैं—दधिभाण्ड फूटा पड़ा है, दधिसे सारा अलिन्द प्लावित हो रहा है! 'मेरे नीलमणिके अतिरिक्त यह कार्य और किसका हो सकता है? मैं उसे स्तन्यपान कराते-कराते छोड़ गयी थी, इसीसे वह अतिशय कुपित हो गया है और उसने भाण्डको फोड़ डाला है। सो भी कितनी चतुरतासे! मैं सुनतक न सकी! तथा यह सब करके वह कहीं भाग गया है।' जननीको यह तथ्य निर्णय करनेमें देर न लगी। सब समझकर वे हँसी रोक न सकीं, खिलखिलाकर हँस पड़ीं—

उत्तार्य गोपी सुश्रृतं पयः पुनः प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम्।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म तज्जाहस तं चापि न तत्र पश्यती॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ७)

यह तो हुआ। पर मेरा नीलमणि गया किस ओर है? मैं उसका कैसे पता पाऊँगी? जननीका कलेजा एक बार तो धक्-धक् करने लगता है; किंतु सहसा उनकी दृष्टि वहाँ प्रसरित दधिकी धाराओंपर अङ्कित श्रीकृष्णचरणचिह्नोंकी ओर चली जाती है। मानो वे चरणचिह्न मूक संकेत कर रहे हों—'मैया! हमारा अनुसरण करो, अपने नीलमणिका अनुसंधान पा लोगी।' सचमुच इन्हींके सहारे यशोदारानी अपने पुत्रको ढूँढ़ सकीं। अन्यथा इतने विशाल नन्दप्रासादमें छिपे नीलमणिको ढूँढ़ निकालना अकेली मैयाके लिये असम्भव था। मैया उन्हींको देखती चल पड़ीं। दहीपर तो चिह्न स्पष्ट थे ही, चरणतल दहीमें सन जानेके कारण आगे भी जहाँ-तहाँ अस्पष्ट चिह्न बन गये थे। नवनीत-भंडारतक क्रम मिलता गया। वहाँसे आगे विलुप्त हो गया था। व्रजेश्वरी समझ गयीं कि निश्चय ही नीलमणि नवनीतभंडारमें ही छिपा है तथा अपने करतलसे सिरका स्पर्श कर चिन्ता करने लगीं—'आह! अबतक तो इस अबोध शिशुने नारायण-भोगके लिये सुरक्षित समस्त नवनीतको कमोरियोंको जूठा कर दिया होगा!'

कपाटके छिद्रसे जननीने झाँककर देखा तो देखती हैं—एक उलटा हुआ ऊखल है, उसीपर उसके

नीलमणि खड़े हैं; उधरके द्वारपर एवं द्वारसे सटे आँगनमें सैकड़ों-हजारों बंदर बैठे हैं। नीलमणि छीकोंसे ले-लेकर वानरोंको यथेच्छ नवनीत लुटा रहे हैं। स्वयं कभी-कभी किञ्चिन्मात्र खा लेते हैं और शेष वानरोंको वितरण कर दे रहे हैं। साथ ही, मैया कहीं उनकी यह चोरी देखने आ तो नहीं गयी हैं, उनकी चोरीका भेद कहीं खुल तो नहीं गया है—इस प्रकार विचारकर शङ्कित नेत्रोंसे इधर-उधर देख भी रहे हैं। अपने पुत्रकी यह अनुपम झाँकी देखकर व्रजरानी सोचने लगीं—'आजतक तो मैं गोपसुन्दरियोंके मुखसे सुनती थी, पर विश्वास नहीं होता था; समझती थी कि वे सब बनाकर कहती हैं, पर आज इसकी सारी चेष्टाएँ मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ। सचमुच यह अतिशय चञ्चल हो गया है। इसका शासन करना आवश्यक है, अन्यथा यह अत्यन्त उच्छृङ्खल हो जायगा।' यह विचारकर वहीं पड़ी हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामें काम आनेवाली स्वर्णछड़ीको जननी अपने हाथमें ले लेती हैं और पीछेसे जाकर उन्हें पकड़ लेनेके उद्देश्यसे धीरे-धीरे चल पड़ती हैं—

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्।
हैयंगवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ८)

मैयाने धीरेसे सम्मुखवर्ती द्वारके कपाट खोल लिये एवं भीतर प्रवेश कर गयीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो नवनीतवितरण करनेमें व्यस्त हैं, उन्हें जननीके आगमनका भान न हो सका; किंतु वानर भागने लगे। अत्यन्त निश्शब्द पादनिक्षेप करती हुई शनैः-शनैः मैया उस ओर आ रही है, वानर यह देख रहे थे। इसीलिये वे उछल-उछलकर अशोकशाखाकी शरण लेने लगे। सहसा उनमें यह खलबली देखकर श्रीकृष्णचन्द्रने पीछेकी ओर दृष्टि डाली। दीखा—अञ्चलमें छड़ी छिपाये मैया आ रही है। फिर तो क्षणभरका भी विलम्ब न करके वे ऊखलसे कूद पड़े; जिस ओर कपिश्रेणी भागकर गयी थी, उसी ओर वे भी अत्यन्त भयभीत हुए-से भाग चले। उनके पीछे जननी भी—'अरे चोरोंके सरदार! अब तू भागकर कहाँ जायगा!' कहती हुई दौड़ पड़ीं। कहाँ तो निर्विकल्प समाधिकी भूमिकामें आरूढ़ हुए योगीन्द्रोंका परम एकाग्र मन, जो ज्ञानके आलोकमें ब्रह्मप्रवण होकर ब्रह्ममें विलीन होनेके सर्वथा योग्य बन गया है, वह भी श्रीकृष्णचन्द्रका स्पर्श नहीं पाता, कहाँ आज यशोदा मैया उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्रको—मनसे नहीं—प्रत्यक्ष हाथसे पकड़नेके लिये उनके पीछे-पीछे दौड़ रही हैं! यह कितना आश्चर्य है!

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ९)

करि ग्यान-जोग-समाधि धारत ध्यान आवत हैं नहीं।
मन बुद्धि चित्त उपाव कौं करि, दौरि पावत हैं नहीं॥
जिहिं कौं गह्यौ जसुधा चहैं बसुधा, परी मति मोह में।
नहिं जानि पूरनब्रह्म, पुत्रहि मानि कै, भरि कोह में॥

जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रने सोचा कि आज जननीके कोपसे त्राण पानेका एक ही उपाय है—पुरद्वारके बाहर सभाभवनमें मैं चला जाऊँ। वहाँ बाबा होंगे, गोप होंगे, वहाँ चले जानेपर मैया तो वहाँ जा नहीं सकेगी; क्योंकि अन्तःपुरसे बाहर, गोपोंकी सभामें तो यह मुझे लेकर कभी नहीं जाती; फिर आज कैसे जायगी। यह निश्चय करके दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तोरणद्वारकी दिशामें ही मुड़ गये—

अथ पुरद्वारं न मातुर्गमनद्वारमिति मत्वा पलायनग्रहिलस्तद्दिशमेव जग्राह।

(श्रीगोपालचम्पूः)

सर्वज्ञ, सर्ववित्को आज इतनी-सी बातका भी पता नहीं कि व्रजेश्वर आज यहाँ नहीं हैं, सभाभवनमें कोई भी गोप नहीं हैं, सभी सुदूर गोवर्द्धनकी उपत्यकामें महोत्सवकी योजनामें लगे हैं। देश-कालसे जिनका ज्ञान कभी परिच्छिन्न नहीं होता, अतीत, वर्तमान, भविष्य—यह काल-भेद जिनके

सामने नहीं है, जिनके समक्ष सब कुछ वर्तमान ही है—वे श्रीकृष्णचन्द्र बाल्यलीलावेशका रस लेते हुए आज ऐसे तन्मय हो रहे हैं कि उपर्युक्त छोटी-सी बात भी उनकी चित्तभूमिमें उदय नहीं हो रही है और वे सारी शक्ति लगाकर मैयाके उद्देश्यको विफल करनेके उद्देश्यसे सभाभवनकी शरण लेने जा रहे हैं। किंतु आज विश्वशरणको वहाँ शरण मिलेगी नहीं; क्योंकि यशोदारानी भी तुली हुई हैं। इसके अतिरिक्त बाहर जानेमें आज उन्हें कोई संकोच भी नहीं है; क्योंकि वे तो जानती ही हैं कि इस समय गोपेन्द्रकी सभास्थली जनशून्य है, वहाँ कोई भी गुरुजन नहीं। इसीलिये निर्बाध वे भी पुत्रके पीछे-पीछे भाग रही हैं—

जननी तु तदानीं तत्राजनतां जानती तमेवानुयातवती।

(श्रीगोपालचम्पूः)

अवश्य ही एक बाधा तो आ ही गयी। बृहत् नितम्बभारसे दबी क्षीणकटि जननी यशोदाके लिये अधिक देरतक द्रुतगतिसे दौड़ना जो सम्भव नहीं। इसीलिये राजसभातक पहुँचते-पहुँचते मैयाकी गति मन्द पड़ जाती है। इतना ही नहीं, गमनवेगसे उनका केशबन्ध शिथिल पड़ जाता है, केशपाशमें ग्रथित प्रसून झर-झरकर मैयाके पीछे मार्गमें गिरते जा रहे हैं। अतिशय वेगसे दौड़नेके कारण यशोदारानीके सारे अङ्ग श्रान्त होते जा रहे हैं। इधर श्रीकृष्णचन्द्र सभाभवनमें जा पहुँचे हैं। पर वहाँ किसीको न पाकर वे कण्टकाकीर्ण उपवनका पथ पकड़ते हैं। ओह! अब तो यशोदारानी अतिशय व्याकुल हो जाती हैं। अबतक तो शरीर ही थका था, अब मनमें पीड़ा होने लगती है—'हाय! यदि नीलमणि अकेला इस वनकी ओर भाग गया, तब तो सर्वनाश हुआ! इसके सुकोमल अङ्ग काँटोंसे छिद जायँगे! नारायण! नारायण·····!' क्षणभरके लिये यशोदारानीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। मैयाके नेत्र बंद हुए कि बस, श्रीकृष्णचन्द्रकी गति भी बंद हो गयी; दृष्टि जो वनकी ओर थी, वह भी निमेषमात्रके लिये मुड़कर जननीकी ओर हो गयी। बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी कृपाशक्ति झाँककर व्रजरानीकी इस दयनीय दशाका निरीक्षण करने लगी तथा देखते-देखते जननीके श्रान्त कलेवरको जो अभी दस हाथ दूर था, खींचकर श्रीकृष्णचन्द्रसे दस अंगुलपर लाकर रख दिया। 'हैं! यह लो!! मैं तो दौड़कर नीलमणिके सर्वथा समीप आ गयी। अब यह कैसे भाग सकता है! अच्छा, फिर भाग रहा है! भाग; मैं भी देखती हूँ!'—उल्लासमें भरी जननीने लपककर पीछेसे श्रीकृष्णचन्द्रके कंधोंपर अपने हाथ रख दिये—

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १०)

कचभार श्रोनीभार भारी हारि बेगि परी महाँ।
उरहार की न सम्हार, भूषन थारि भूमि परी तहाँ॥
सुचि केसपासनि तै रुरी मुकतालि गूँथी टूटि कै।
श्रम-स्वेद-सीकर सोह आनन, फूल फैलत छूटि कै॥
प्रभु देखी जननी जबै, व्याकुल श्रमतन जानि।
लागि दया, ठाढ़े भए तबहीं सारँगपानि॥

श्रीकृष्णचन्द्र जननीके अपराधी हैं। जननी एक हाथ पकड़े भवनकी ओर उन्हें ले चलती हैं। इस समयकी झाँकी देखने ही योग्य है—श्रीकृष्णचन्द्र क्रन्दन कर रहे हैं, नेत्रोंमें लगा काजल अश्रुप्रवाहसे धुल-धुलकर कपोलोंको सिक्त कर रहा है। रुक-रुककर दूसरे हाथसे वे अश्रुमार्जन करने लगते हैं। भयविह्वल नेत्रोंसे बार-बार सिर उठाकर जननीके मुखकी ओर देखते हैं; किंतु जननीमें मानो आज दयाका लेश भी नहीं है। बार-बार वे स्वर्ण-छड़ीको ऊपर उठाती हैं तथा ऐसी मुद्रा बनाती हैं, मानो अब वे इस छड़ीसे सचमुच श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंपर प्रहार करेंगी ही। उस समय श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय आकुलकण्ठसे पुकार उठते हैं—'मेरी मैया! अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा।' किंतु जननीका हृदय तनिक भी नहीं पसीजता। और भी रोषभरी वाणीमें वे

उनकी भर्त्सना करने लगती हैं।' 'अरे चञ्चलमति! रे क्रोधी! रे लोभी! अरे वानरबन्धु! रे गृहलुण्ठनकारी! तूने गोकुलमें गोपसुन्दरियोंके घर जा-जाकर बड़ी उद्दण्डताएँ की हैं, बहुत उत्पात मचाये हैं; आज उन सब अपराधोंका दण्ड मैं तुझे अवश्य दूँगी। चल, बता, कहाँ हैं तेरे खिलौने? सब लाकर मुझे दे दे। मैं सारे खिलौने ले लूँगी और फिर देख इस छड़ीकी ओर, देखता है तो!.....।' इस प्रकार जननी शमनको भी भय देनेवाले विश्वभयहारी श्रीकृष्णचन्द्रको भय दिखाने लगती हैं—

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ११)

व्रजेन्द्रनन्दनका यह करुणक्रन्दन पार्श्ववर्ती आभीर-सुन्दरियोंके कानोंमें जा पहुँचता है। वे दौड़ पड़ती हैं। सबसे पहले एक वृद्धा गोपी आयी। श्रीकृष्णचन्द्रकी दशा देखकर उसका हृदय भर आया। यशोदारानीसे उसने कारण पूछा। संक्षेपमें व्रजेश्वरीने उसे सारी बात बता दी। फिर तो वह रोषमें भरकर बोली—

हरि के बदन तन धौं चाहि।
तनक दधि कारन जसोदा! इतौ कहा रिसाहि॥
लकुट कें डर डरत ऐसें सजल सोभित डोल।
नील-नीरज-दल मनौ अलि-अंसकनि कृत लोल॥
बात बस समृनाल जैसें प्रात पंकज-कोस।
भ्रमित मुख इमि अधर सूचत, सकुच में कछु रोस॥
छितिक गोरस-हानि, जा कौं करति है अपमान।
सूर ऐसे बदन ऊपर वारिऐ तन-प्रान॥

मैयाने देखा—'सचमुच नीलमणि मेरी इन चेष्टाओंको सत्य मानकर अत्यधिक डर गया है।' वात्सल्यघनमूर्ति जननीके प्राणोंमें टीस चलने लगी। मनमें आया—'नीलमणिको वक्षःस्थलसे लगाकर, शत-सहस्र चुम्बनसे नहलाकर इसके आँसू पोंछ दूँ।' किंतु इसी समय लीलाशक्ति मैयाके हृदयमें लीलाके अनुरूप विवेक भरने लगीं—'नहीं-नहीं नन्दरानी! ऐसा कभी मत करना! तुम्हारा यह रोष इस नीलमणिके प्रति थोड़े ही है! तुम तो नीलमणिके मङ्गलके लिये ही रोषका स्वाँग कर रही हो। भविष्यमें नीलमणि उच्छृङ्खल न हो जाय, तुम्हारा तो इतना ही उद्देश्य है। आज थोड़ा-सा धैर्य रख लो। आजसे पूर्व कभी तुमने नीलमणिका शासन नहीं किया। तथा यह भी नितान्त सत्य है कि अब आगे भविष्यमें भी तुम कभी नीलमणिके प्रति, क्षणभरके लिये भी रूक्ष भाव धारण नहीं कर सकोगी। यह तो तुम्हारे जीवनमें नीलमणिके प्रति प्रथम एवं अन्तिम अनुशासनकी लीला है। इससे तुम्हारे पुत्रका मङ्गल ही होगा, इसका अपार सुयश बढ़ेगा। अब बीचमें यदि तुम धीरज छोड़ दोगी तो नीलमणिका स्वभाव कैसे सुधरेगा? नहीं-नहीं, थोड़ी देरके लिये अपने प्राणोंकी वेदनाको छिपाये रहो, उसे सह लो, अनुशासनकी लीला हो जाने दो; इसके पश्चात् कोटि-कोटि प्राणोंके स्नेहसे नीलमणिको धो-पोंछकर लाड़ लड़ाना।' यशोदारानी एक उधेड़-बुनमें पड़ जाती हैं। इतनेमें एक दूसरी प्रौढ़ा गोपी रूक्षता और करुणाके मिश्र स्वरमें यशोदारानीसे कहने लगती है—

हरि को ललित बदन निहारु।
निपट ही डाँटति निठुर ज्यों, लकुट कर तें डारु॥
मंजु अंजन सहित जल-कन चुअत लोचन चारु।
स्याम सारस मग मनो ससि स्रवत सुधा-सिंगारु॥
सुभग उर दधि-बुंद सुंदर लखि अपनपौ वारु।
मनहुँ मरकत मृदु सिखरपर लसत बिसद तुषारु॥
कान्हहू पर सतर भौंहैं, महरि! मनहिं बिचारु।
दास तुलसी रहति क्यों रिस निरखि नंदकुमारु॥

अब तो श्रीकृष्णचन्द्रके भयविजड़ित नेत्र यशोदारानीके लिये भी सर्वथा असह्य हो गये और उन्होंने अपने हाथकी स्वर्णछड़ी तो दूर फेंक ही दी। छड़ी फेंककर सोचने लगीं—'कुछ देरके लिये नीलमणिको बाँध दूँ। बन्धनके भयसे आगे यह उत्पात नहीं करेगा। साथ ही थोड़ी देरके लिये मैं भी निश्चिन्त हो जाऊँगी। आज

अब मुझे स्वयं अकेले ही श्रीनारायणसेवाकी सारी व्यवस्था करनी है। रोहिणी बहिनको उपनन्दपत्नी भोजन कराये बिना यहाँ आने देंगी, यह असम्भव है। अतः वे मध्याह्नसे पूर्व आ नहीं सकेंगी। सारा गृहकार्य मुझे ही करना है। नीलमणि मुझपर मन-ही-मन अतिशय कुपित है। इधर मैं गृहकार्यमें लगी और उधर यह रूठकर कहीं जा छिपा तो फिर इसे ढूँढ़ना कठिन हो जायगा। इसलिये सर्वोत्तम उपाय यही है कि इसे बाँध दूँ।' इस प्रकार सोचकर यशोदारानीने मन-ही-मन श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधनेका निश्चय कर लिया। मैया नहीं जानती कि वे वास्तवमें किन्हें बन्धनमें लानेका विचार कर रही हैं। वे श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त, असमोर्द्ध ऐश्वर्यसे परिचित नहीं हैं। उनके लिये तो श्रीकृष्णचन्द्र उनके गर्भ-प्रसूत शिशु हैं। जननीके लिये पुत्रका अनुशासन कर्तव्य है। वे तो अपना कर्तव्य ही पूरा करने जा रही हैं। पुत्र छड़ी देखकर अधिक भयभीत हो गया था, इसलिये छड़ी तो फेंक दी; पर शासन आवश्यक है इसलिये बाँधनेका विचार कर रही हैं—

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १२)

श्रीकृष्णचन्द्रने आज अपने घर उत्पात किया है, व्रजेश्वरीका कमोरा फोड़ दिया है, व्रजरानी अतिशय कुपित हो रही हैं—यह समाचार सुनकर दल-की-दल आभीरसुन्दरियाँ नन्दप्राङ्गणमें एकत्र हो रही हैं। पर जो आती है, वही श्रीकृष्णचन्द्रको रोते देखकर उन्हींका पक्ष लेती है और यशोदारानीको उनके कोटिप्राणप्रियतम नीलमणिकी दशा दिखाकर रिस छोड़ देनेके लिये समझाती है—

जसुदा! देखि सुत की ओर।
बाल बैस रसाल पर रिस इती कहा, कठोर॥
बार-बार निहारि मुख तन, नमित मुख दधि-चोर।
तरनि-किरनहिं परसि मानो कुमुद सकुचत भोर॥
त्रास तैं अति चपल गोलक, सजल सोभित छोर।
मीन मानौ बेधि बंसी, करत जल झकझोर॥
देत छबि अति गिरत उर पर अंबु-कन के जोर।
ललित हिय जनु मुक्त-माला गिरति टूटें डोर॥
नंद-नंदन जगत-बंदन करत आँसू कोर।
दास सूरज मोहि सुख हित निरखि नंदकिसोर॥

श्रीकृष्णकी ऊखल-बन्धन-लीला

आभीर-सुन्दरियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको जननीके अनुशासनसे मुक्त करनेका कम प्रयास नहीं किया, किंतु सब व्यर्थ। यशोदारानीने सबकी अनसुनी कर दीं। उन्हें तो प्रतीत हो रहा है कि सभी दृष्टियोंसे नीलमणिको घड़ी-आध-घड़ीके लिये बाँधे रखना आवश्यक है, श्रेयस्कर है। अतः सबकी अवहेलना कर वे श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधने चलती हैं। किन श्रीकृष्णचन्द्रको?

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १३-१४)

'जिन श्रीकृष्णचन्द्रमें न बाहर है न भीतर है, सर्वत्र व्याप्त रहनेके कारण जिनमें देशगत परिच्छिन्नता नहीं है; जिनका न तो आदि है न अन्त, त्रिकालसत्य तत्त्व होनेके कारण जिनमें कालकृत परिच्छिन्नता भी नहीं है; जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके सृजनसे पूर्व भी विराजित थे, अनन्त ब्रह्माण्डोंका विलय हो जानेके पश्चात् भी विराजित रहेंगे; जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके अन्तरालमें अवस्थित हैं, साथ ही उनके बाहर भी विराजित हैं; जो स्वयं ही प्राकृत-अप्राकृत समस्त विश्वब्रह्माण्ड बने हुए हैं—उन अचिन्त्यस्वरूप, अधोक्षज (इन्द्रियागोचर) नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रको अपना उदरजात पुत्र मानकर—जैसे कोई काष्ठ-पुत्तलिकाको बाँधने चले, इस प्रकार—व्रजमहिषी ऊखलसे बाँधने जा रही हैं!'

बन्धनका अर्थ क्या है? किसी सीमित—ओर-छोरवाली वस्तुको उसकी अपेक्षा एक अधिक विस्तारवाली वस्तुसे वेष्टित कर देना, लपेट देना। पर जननी श्रीकृष्णचन्द्रकी सीमा, उनका ओर-छोर कहाँ पायेंगी? उनको लपेटनेके योग्य उनसे बड़ी वस्तु उन्हें कहाँ मिलेगी? श्रीकृष्णचन्द्रको वे कैसे बाँध सकेंगी? किंतु यह तत्त्वज्ञान वात्सल्यरस-घनमूर्ति यशोदारानीके हृदयको स्पर्श ही नहीं करता। वे तो प्रत्यक्ष प्रतिदिन उन असीमको अपनी भुजाओंमें बाँध लेती हैं, इस समय भी उनका एक हाथ उनकी एक मुट्ठीमें बँधा है। फिर भला, उनको उदरबन्धनके योग्य वस्तु क्यों नहीं मिलेगी? वे तो आज श्रीकृष्णचन्द्रको अवश्य बाँधेंगी। इसीलिये अब अधिक विलम्ब न करके, अपने सिरकी स्खलित वेणीसे वेणीबन्धनकी सुकोमल पट्टडोरी (रेशमी डोरी) निकाल लेती हैं तथा उसे श्रीकृष्णचन्द्रके कटिदेशमें लपेटना आरम्भ करती हैं।

अब तो श्रीकृष्णचन्द्र उच्च स्वरसे क्रन्दन करते हुए बार-बार पुकारने लगते हैं—'अरी रोहिणी मैया! दौड़, देख—मैया मुझे बाँध रही है; तू मुझे छुड़ा ले।' किंतु आज रोहिणी मैया भी यहाँ नहीं, जो आकर उन्हें छुड़ा सकें। वे तो उपनन्दके घर गयी हुई हैं। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रका बन्धनसे छूटनेके लिये यह उपाय भी असफल हो जाता है। जिनके नामको केवल एक बार ग्रहण कर लेनेमात्रसे—छींकने, गिरने, फिसलनेके समय, विवश होकर एक नाम एक बार उच्चारण कर लेनेमात्रसे मनुष्यका अनादि कर्मबन्धन उसी क्षण छिन्न-भिन्न हो जाता है—ऐसा कर्मबन्धन जिसे मुमुक्षु पुरुष योगसाधन आदि बड़े-बड़े उपायोंके द्वारा बड़ी कठिनाईसे काट पाते हैं, वह तत्क्षण नष्ट हो जाता है; जिनके नामकी इतनी महिमा है—

यस्य ह वाव क्षुत्पतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते॥

(श्रीमद्भा० ५। २४। २०)

—वे श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके भावी बन्धनसे

मुक्त होनेके लिये रो-रोकर पुकार रहे हैं, फिर भी उनकी रक्षा नहीं हो पा रही है। बाल्यलीला-विहारी व्रजेन्द्रनन्दन! बलिहारी है तुम्हारी इस विश्वविमोहिनी लीलाकी!

वहाँ उपस्थित गोपसुन्दरियोंको तो अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्रका यह क्रन्दन असह्य हो गया है। वे अत्यन्त रूक्ष होकर व्रजेश्वरीको बार-बार समझाती हैं—

कहा भयौ जौ घर कें लरिका चोरी माखन खायौ।
अहो जसोदा! कत त्रासति हौ, यह कोखि कौ जायौ॥
बालक अजौं अजान, न जानै केतिक दहीं लुटायौ।
तेरौ कहा गयौ? गोरस कौ गोकुल अंत न पायौ॥

—पर नन्दरानी तो मानती नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी बन्धनके भयसे अपने सारे अङ्गोंको हिलाकर जननीकी मुट्ठीसे छूटना चाहते हैं—कभी भूमिपर पसर जाते हैं तो कभी जननीके पृष्ठदेशकी ओर छिपने लगते हैं; किंतु जननी न तो हाथ छोड़ती हैं न बन्धनका आग्रह। एक हाथसे श्रीकृष्णचन्द्रको दबाये रखकर दूसरे हाथसे उस पट्टडोरीको कटिमें लपेटनेकी चेष्टामें लगी हैं, प्रायः लपेट लेती हैं। अब गाँठ देने चलती हैं, पर गाँठ नहीं लगा पातीं; क्योंकि वह पट्टडोरी दो अंगुल छोटी पड़ गयी। क्षणभरके लिये मैया रुकीं। अपराधी पुत्रको बाँधकर शासन तो उन्हें करना ही है! अतः वेणीसे तुरंत उन्होंने दूसरी डोरी निकाल ली और उसे पहलीमें जोड़ दिया—

तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत् तेन संदधेऽन्यच्च गोपिका॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १५)

दूसरी डोरी जोड़कर, उसे श्रीकृष्णचन्द्रके उदरपर यथास्थान स्थापितकर जब मैया गाँठ देने चलीं तो पुनः दो अंगुलका अन्तर पड़ गया। मैयाने सोचा—'चञ्चल नीलमणि भागनेकी चेष्टामें अपने अङ्गोंको अत्यधिक कम्पित कर रहा है, इसीलिये डोरी इधर-उधर उलझकर पुनः दो अंगुल छोटी हो गयी है; इसे किञ्चित् और बड़ी बना लूँ।' यह सोचकर मैयाने अपनी कबरीमें बँधी तीसरी पट्टडोरीको भी निकाल लिया, उसे भी जोड़ लिया तथा यह करके, उसे लपेटती हुई, पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके पृष्ठदेशकी ओर गाँठ देनेके लिये अपना हाथ ले गयीं; किंतु इस बार भी पहलेकी भाँति ही गाँठ लगानेमें कठिनाईका अनुभव हुआ। मैयाने जब उस ओर नेत्र फिराकर देखा तो दीखा—ठीक दो अंगुलका व्यवधान इस बार भी हो रहा है। अब तो मैयाको अत्यधिक आश्चर्य होने लगा; क्योंकि पहली डोरी ही बन्धनके लिये पर्याप्त थी तथा उसमें दूसरी, तीसरी भी संनद्ध कर दी गयी; फिर भी दो अंगुलकी न्यूनता नहीं पूर्ण हुई। जननी यह निर्णय नहीं कर सकीं कि वास्तवमें डोरी कहाँपर, किस कारणसे उलझकर ठीक दो अंगुल इस बार भी छोटी रह गयी! कुछ भी कारण हो, यशोदा मैयाके पास न तो अवकाश है कि वे इसपर विचार कर सकें न उनके लिये यह सम्भव है कि अपने नीलमणिको बाँधनेका आग्रह ही वे छोड़ दें। किंतु कबरीमें अब अन्य पट्टडोरी तो है नहीं! तथा श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर दूसरे स्थानसे सुकोमल डोरी ले आना सम्भव भी नहीं। अब क्या हो? व्रजेश्वरी और कोई उपाय न देखकर समीपमें खड़ी गोपसुन्दरियोंसे ही कहती हैं—'बहिनो! वहाँ देखो, मेरी उस मणिपेटिकामें ऐसी कई पट्टडोरियाँ पड़ी हैं, उन्हें ला तो दो; आज मैं इसे बाँधूँगी ही।'

व्रजरानीका आदेश प्राप्त होनेसे गोप-सुन्दरियोंको अवसर मिल गया। उन सबने एक बार पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके अनिन्द्यसुन्दर रूपकी ओर मैयाका ध्यान आकर्षितकर उनका रोष शान्त कर देनेकी चेष्टा की—

चितै धौं कमल-नैन की ओर।
कोटि चंद वारौं मुख-छबि पर, ए हैं साहु कै चोर॥
उज्ज्वल अरुन असित दीसति हैं दुहु नैननि की कोर।
मानौ सुधा-पान कें कारन बैठे निकट चकोर॥
कतहिं रिसाति जसोदा इन सौं, कौन ग्यान है तोर।
सूर स्याम बालक मनमोहन, नाहिंन तरुन किसोर॥

किंतु व्रजरानी और भी अधिक रोषभरी वाणीमें कह उठती हैं—'देखो! तुम सबकी शिक्षाकी आवश्यकता मुझे नहीं है; मैं चाहती हूँ, पट्टडोरियोंको ला दो; नहीं ला सको तो चुपचाप शान्त बैठी रहो। तुम्हें यह सहन नहीं हो रहा हो तो नेत्र बंद कर लो, यहाँसे दूर चली जाओ; मैं तो इसे बाँधकर रहूँगी।'

आज प्रथम बार व्रजपुर-सुन्दरियोंने व्रजेन्द्रगेहिनीको इतनी उत्तेजित एवं ऐसा कठोर व्यवहार करते हुए पाया। उन्होंने देखा, यशोदारानी अत्यधिक कुपित हैं; यदि हम सब डोरियाँ लाकर उन्हें न देंगी तो पता नहीं रोषके आवेशमें अपने नीलमणिके प्रति वे कैसा व्यवहार कर बैठें। यह सोचकर कुछ गोपियाँ डोरी लानेके लिये दौड़ गयीं। इधर एक गोपीको मैयाकी बातसे अत्यधिक क्रोध आया; पर उसने अपना क्रोध प्रकट होने नहीं दिया। वह चटपट उठी, यशोदारानीका सुचिक्कण मन्थनरज्जु, जिससे वे अपने कोटिप्राणप्रिय नीलमणिके लिये प्रतिदिन दधिमन्थन करती थीं, लाकर मैयाके हाथपर रख दिया और व्यङ्गमें भरकर बोली—'नन्दगेहिनी! यह पर्याप्त लंबी है, उन पट्टडोरियोंमें इसे जोड़ लो।' व्रजरानी उस गोपीके व्यङ्गको जान गयीं, मन-ही-मन हँसी भी कि देखो, यह बावली मेरे कपट-रोषको सत्य मान रही है। पर ऊपरसे संतोष प्रकट करती हुई, 'ठीक है बहिन! तुमने बहुत सुन्दर वस्तु ला दी' यह कहकर उसका अनुमोदन किया। वास्तवमें वह मन्थनरज्जु अत्यन्त सुकोमल—सुचिक्कण था भी; पट्टडोरीकी तुलनामें किञ्चित् स्थूल अवश्य था, पर उससे श्रीकृष्णचन्द्रके अतिशय सुकोमल अङ्गोंमें क्षत लगनेकी सर्वथा सम्भावना नहीं थी। इसीलिये मैयाने भी अविलम्ब उसे पूर्वसंनद्ध पट्टडोरीमें जोड़ लिया। जोड़कर पूरी सावधानीसे श्रीकृष्णचन्द्रका उदर-बन्धन करने लगीं। किंतु आश्चर्य! महान् आश्चर्य!! इतने विस्तृत मन्थनरज्जुके जुड़नेपर भी पूर्ववत् वही दो अंगुलकी न्यूनता रह ही गयी। इस बार मैयाके विस्मयका पार नहीं रहा, पर उपस्थित गोपसुन्दरियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। कुछ नवतरुणियाँ हँसकर बोलीं—

व्रजदेवि! निवेदितमेवास्माभिः। स एष समुन्नतया मोहनतया कफाञ्चकमपि वोञ्चयन् लोप्त्रमात्रसुकलतानन्दी परास्कन्दी संदीप्यत इति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेश्वरी! हम सबने तो जब हम उलाहना देने आयी थीं—तभी तुमसे कहा था कि यह कोई उत्कृष्ट मोहिनी विद्या जानता है। इसी विद्याके सहारे, जब यह नवनीत आदि अपहरण करने जाता है तब कफञ्चक* को भी मात कर देता है; क्योंकि उस विद्याके बलसे इसे न तो कोई पकड़ सकता है, न बाँध सकता है; यह मनमानी करता है। दधि, दुग्ध आदि वस्तुओंका अपहरण करना, उसे स्वयं भोजन करना एवं वानर आदिको यथेच्छ वितरण करना—एकमात्र यही इसका काम है; इसीमें इसने पर्याप्त प्रसिद्धि पायी है, केवल इसीमें इसे सच्चा रस भी मिलता है। यह चौराग्रणी आज यहाँ भी उसी विद्याके प्रभावसे विजयी हो रहा है, तुम्हारे बन्धनमें नहीं आ रहा है।'

इन नवतरुणियोंकी बात सुनकर यशोदारानी यह सोचने लगती हैं कि 'हो-न-हो, इन्हीं सबने किसी स्तम्भन-विद्याका प्रयोग कर मेरे पुत्रके बन्धनमें बाधा डाली है। मेरा नीलमणि इन सबको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, उसका बन्धन ये सहन नहीं कर सकतीं। जब मैंने इनकी बातोंकी उपेक्षा कर दी, तब इन्होंने स्तम्भन-विद्याका आश्रय लिया है और यही कारण है कि मैं नीलमणिको बाँध नहीं पा रही हूँ।' यह विचार आते ही मैया खीझी-सी होकर कहती हैं—'नहीं-नहीं, मुझे बतलानेकी आवश्यकता नहीं; मैं जानती हूँ कि मेरे नीलमणिका बन्धन क्यों नहीं हो पा रहा है। यह उसकी मोहिनी विद्याका परिणाम नहीं, यह तो तुमलोगोंकी किसी निन्दनीय विद्याकी लीला है—

* चौर्यविद्याके आदि आचार्यका नाम कफञ्चक है।

किंतु भवतीनामेव कापीयमवद्या विद्या।

(श्रीगोपालचम्पूः)

व्रजेश्वरीका यह सरस आक्षेप सुनकर क्या तरुणी, क्या वयस्का—सभी अट्टहास कर उठती हैं। पर जननी कहीं और कुपित न हो जायँ, इस आशङ्कासे हँसते हुए ही वे कहने लगती हैं—

तत्र भवति! भवच्चरणेभ्यः शपथमाचरामः।
नास्माकं विस्मापिकेयं विद्या विद्यत इति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजरानी! सुनो, हम सच कहती हैं, तुम्हारे चरणोंकी शपथ करके कह रही हैं—आश्चर्यमें भर देनेवाली यह विद्या, जिसके कारण यह घटना घटित हो रही है—हमलोगोंकी नहीं है, हमसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

इतनेमें वे गोपियाँ, जो यशोदारानीकी मणिपेटिकासे पट्टडोरी निकालने गयी थीं, बहुत-सी डोरियाँ लिये आ पहुँचती हैं। डोरी देखते ही मैयाका उत्साह नवीन हो जाता है। अवश्य ही उनका मन तो आश्चर्यसे भरा है। गोपियोंको शपथ करते देखकर वे सोचने लगी हैं कि सम्भवतः गर्गाचार्यके वचनोंके अनुसार कोई भागवती शक्ति मेरे नीलमणिमें समय-समयपर आविष्ट होती है, मेरे नीलमणिको उस सम्बन्धमें कुछ भी अनुभव नहीं होता और शक्ति काम करती रहती है; किंतु कुछ भी हो, नीलमणिको तो उन्हें बाँधना ही है; साथ ही इस आश्चर्यका भी अन्त पाना है। इसीलिये मैया पट्टडोरियोंको क्रमशः उसी पूर्वके रज्जुमें जोड़ती हैं, एकके जुड़ जानेपर पुत्रके उदरमें लपेटकर परीक्षा करती हैं; पर परिणाम एक ही होता है, डोरी दो अंगुल न्यून पड़ जाती है। जिस क्षणसे दो अंगुल अन्तर पड़नेका व्रजेश्वरीको भान हुआ, तबसे उन्होंने जितनी डोरियाँ जोड़ी हैं, वे सब-की-सब ठीक दो अंगुल न्यून पड़ी हैं; मानो प्रत्येक डोरी किसी निश्चित अभिसंधिसे प्रत्येक बार दो अंगुलका व्यवधान रखकर पीछे हट जाती है। श्रीकृष्णचन्द्रके बन्धनसे विरत हो जाती है। नन्दभवनकी समस्त पट्टडोरियोंको एकत्रकर मैया एक-दूसरीसे संनद्ध करती हैं, पर किसीसे उसका उद्देश्य सफल नहीं होता। जननी प्रत्येक बार असफल हो रही हैं। उनकी इस असफलताको देखकर गोप-सुन्दरियाँ तो हँस ही रही थीं; अब मैयाका भी रोष जाता रहता है, वे स्वयं भी असफल प्रयासपर हँसने लगती हैं; किंतु इस आश्चर्यमयी घटनाको देख-देखकर क्षण-क्षणमें उनका विस्मय बढ़ता जा रहा है—

यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि संदधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम्॥
एवं स्वगोहदामानि यशोदा संदधत्यपि।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १६-१७)

विस्मयविस्फारित नेत्रोंसे जननी व्रजपुरन्ध्रियोंकी ओर देखने लगती हैं। अबतक उनकी दृष्टि एकमात्र अपने नीलमणिकी ओर, उनके उदर-बन्धनकी ओर केन्द्रित थी; पर अब वे गोपरामाओंकी ओर देखकर, मानो उनसे इस घटनाके अन्तर्निहित कारणका संकेत पाना चाहती हों, इस प्रकार शान्त खड़ी हो जाती हैं। गोपरामाओंको स्वयं भी अतिशय आश्चर्य हो रहा है। वे कहती हैं—

जगदेकधन्ये! क्षिप्रमिदं यदतिपरिमितपरिमाणेन कनकमेखलासूत्रेण वेष्टितमिदमस्य कटितटं तदधुना गृहस्थितेन यावतैव दाम्ना न परिमीयते। सर्वमेव दामनिकुरम्बं द्व्यङ्गुलन्यूनमेव सम्पद्यते। तदवश्यमेव केनापि रहस्येन भवितव्यम्। सदितः परमेव विरमेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'यशोदारानी! जगत्में एकमात्र धन्य तुम्हीं हो, नीलमणिकी जननी जो ठहरी। नीलमणिकी जन्मदात्री होकर अबतक तुमने एक-से-एक बढ़कर न जाने कितनी आश्चर्यमयी लीलाएँ देखी हैं। आज भी देखो। ओह! सचमुच कितने आश्चर्यकी बात है—नीलमणिका कटिदेश अत्यन्त परिमित परिमाण (नाप)-

वाले स्वर्णमेखलासूत्रसे तो आवृत है—जिस छोटे-से सूत्रमें तुमने स्वर्णमेखलाको ग्रथित किया था, वह सूत्र तो कटिको चारों ओरसे घेरे हुए है; किंतु उसी कटिको जब तुम आज पट्टडोरिकासे वेष्टित करने चलती हो, तब उसका परिमाण ही नहीं मिलता; वह कटि कितनी बड़ी है, यह पता ही नहीं चलता। देखो न, तुम्हारे भवनकी समस्त डोरियाँ जोड़ दी गयीं, किंतु कटिका परिमाण नहीं मिला। राशि-राशि डोरी जोड़कर तुमने देख लिया, किंतु सभी डोरियाँ दो अंगुल छोटी ही पड़ती गयीं। अतः निश्चित समझो, किसी रहस्यके कारण ही ऐसा हो रहा है; सम्भव है नीलमणिके भाग्यमें बन्धनयोग ही न हो, इसीलिये ऐसा हो रहा हो। अतः अब तुम नीलमणिके बाँधनेका प्रयत्न तो छोड़ ही दो।'

अब तो श्रीकृष्णजननी और भी आश्चर्य करने लगीं। अभीतक उनका ध्यान इस ओर गया ही न था कि सुबृहत् परिमाणमें योजित पट्टडोरिकाएँ तो लपेटते समय दो अंगुल न्यून पड़ रही हैं, पर ठीक उसी समय कटितट मेखलासे आवृत है। ये दो सर्वथा विरोधी बातें एक ही समयमें एक ही स्थलपर संघटित हो रही हैं। यह बात ध्यानमें आनेपर जननीका चित्त एक बार तो भ्रमित होने लगता है; पर तुरंत ही किसी अज्ञात शक्तिसे अनुप्राणित-सी होकर वे निश्चय कर लेती हैं कि इस अत्यन्त आश्चर्यजनक घटनाकी अवधि कहाँ है, कितनी डोरियाँ इसमें लगती हैं—यह बात तो देखने ही योग्य है, वे अवश्य इसका निर्णय करके ही छोड़ेंगी। इस निश्चयको कार्यान्वित करनेके उद्देश्यसे वे गोपियोंसे बोलीं—

अयि! मद्गृहे नैतादृशान्यपराणि सन्ति दामानि भवतीनां गृहेषु यानि वा सन्ति तान्यप्यानयतेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री बहनो! देखो, अब मेरे घर तो ऐसी सुकोमल पट्टडोरिकाएँ हैं नहीं। अब तुम सबके घर ऐसी जितनी पट्टडोरियाँ हों, उनको ला दो।'

इससे पूर्व गोपिकाएँ श्रीकृष्णचन्द्रको छुड़ा लेनेके लिये व्याकुल थीं; क्योंकि वे अत्यन्त भयभीत होकर त्राण पानेके लिये विकल प्रतीत हो रहे थे। किंतु अब वे अपेक्षाकृत शान्त हो गये थे; गोप-सुन्दरियोंको भी निश्चय हो गया था कि मैयाके लिये श्रीकृष्णचन्द्रको बाँध लेना सम्भव नहीं। साथ ही वे भी इस आश्चर्यमय रहस्यका अन्त न पाकर विस्मयके झूलेमें झूल रही थीं; वे भी उत्कण्ठित थीं कि देखें, इस आश्चर्यमयी घटनाका पर्यवसान किसमें कहाँ होता है। अतः मैयाका आदेश पाते ही वे सब दौड़ गयीं; जिसके घरमें जितनी पट्टडोरियाँ थीं, उन सबको उठा लायीं। देखते-ही-देखते उन सबने व्रजरानीके समक्ष डोरियोंका ढेर एकत्र कर दिया। कदाचित् कोई सोचे, श्रीकृष्णचन्द्रने गोपसुन्दरियोंके घर अनेकों उत्पात किये हैं, उनके अगणित मटके फोड़े हैं, इसीलिये उन्हें डराकर अपना रसभरा वैर चुकानेके लिये वे डोरियाँ ले आयी हों, तो यह बात नहीं; इस बार जननीके बन्धन-आग्रहसे क्रुद्ध होकर ले आयी हों, यह भी नहीं; जननीके आदेशका तिरस्कार करनेसे वे कुपित होंगी, इस भयसे उन्होंने डोरियाँ दी हों, सो भी नहीं; वे तो अतिशय आनन्द-कौतूहलसे प्रेरित होकर श्रीकृष्णचन्द्रके इस अलौकिक अद्भुत चरित्रको देखनेकी अभिलाषासे—दो अङ्गुलकी न्यूनता पूरी होती है या नहीं, इसका निर्णय करनेके उद्देश्यसे अपने-अपने घरकी समस्त डोरियाँ बटोर ले आयी हैं—

न क्रोधान्न च वैरतो व्रजपुरेश्वर्या न च त्रासतो
यासां येषु गृहेषु सन्ति परितो यावन्ति दामान्यथ।
तावन्त्येव हि ताभिरत्र परमादानन्दकौतूहला-
लोकातीतचरित्रवीक्षणवशादानिन्यिरे तत्पुरः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, व्रजेश्वरी उनमेंसे कुछको लेकर संग्रथित करती हैं, फिर उस विस्तृत रज्जुको श्रीकृष्णचन्द्रके उदरपर विराजित पट्टडोरीसे जोड़ती हैं; जोड़कर देखती हैं तो वह भी पूर्वकी भाँति दो अंगुल न्यून है। पुनः

कतिपय डोरियाँ उठाती हैं, परस्पर योजितकर उदरकी डोरीसे बाँध देती हैं; पर लपेटनेके समय उसे भी उतना ही न्यून पाती हैं। इस प्रकार पुरसुन्दरियोंके द्वारा लायी हुई डोरियाँ भी समाप्त हो जाती हैं, पर दो अंगुलका अन्तर नहीं मिटता; मानो वह न्यूनता परब्रह्मका स्पर्श पाकर स्वयं परब्रह्म बन गयी है, ब्रह्मके समान ह्रास-वृद्धिसे रहित हो गयी है—न घटती है, न बढ़ती है, निरन्तर एक-समान दो अंगुलकी बनी हुई है—

ब्रह्मैवाजनि ह्रासवृद्धिरहिता सा द्व्यङ्गुलन्यूनता।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ज्यों ही पट्टडोरियोंका वह ढेर समाप्त हुआ, वैसे ही आभीर-सुन्दरियोंके मुखपरसे हास भी अन्तर्हित हो जाता है; हासके स्थानपर भयमिश्रित प्रगाढ़ विस्मयकी लहरें नाचने लगती हैं। व्रजेश्वरीका कौतुककोप (कोपका स्वाँग), उससे अद्भुत नीलमणिके बन्धनका प्रयास उनके लिये विचित्र भीतिमूलक आश्चर्यका विषय बन जाता है। ओह! कनक-मेखला ज्यों-की-त्यों बँधी है; न तो वह टूटी, न उसमें कभी किंचिन्मात्र भी स्पन्दन ही हुआ—होता कैसे, श्रीकृष्णचन्द्रके उदरमें यदि थोड़ी भी वृद्धि हुई होती तब तो मेखला टूटती या कम्पित होती! उदर तो ज्यों-का-त्यों है। किंतु उसी मेखलासे समन्वित उदरके निम्नतलमें, मेखलाकी समानान्तर रेखाके रूपमें लपेटते समय वह सुबृहत् लंबी डोरी दो अंगुल छोटी पड़ जाती है, डोरीके दोनों छोर मिल नहीं पाते; डोरीका वह विस्तार बीचमें न जाने कहाँ विलुप्त हो जाता है। गणना करते समय उस सुचिक्कण डोरीमें लगी अगणित सुन्दर गाँठें भी उदरके अग्रभागकी ओर दीख पड़ती हैं; किंतु जब कभी भी यशोदारानी पृष्ठदेशकी ओर मुख करके गाँठ देनेके लिये दोनों छोरोंको मिलाने चलती हैं, तब वही दो अंगुलका व्यवधान मिलता है। उदरके आगे गाँठोंसे भरा पट्टडोरीस्तूप पड़ा है, पर प्रत्येक बार ही डोरीके दोनों छोर मिलानेमें व्रजेश्वरी सर्वथा असफल हो रही हैं। यह वास्तवमें है कैसी, किसकी लीला! सबने अपने-अपने घरकी समस्त डोरियाँ ला दीं, घरमें एक भी डोरी नहीं बची; फिर भी वह अल्प परिधिका कटिदेश वेष्टित न हो सका—यह अघट-घटन कैसे सम्भव हो रहा है.....! गोप-सुन्दरियोंके नेत्र निष्पन्द हो गये, उन्हें गृह-पुत्र-परिजनकी विस्मृति हो गयी, मन-बुद्धिमें अवशिष्ट अन्य विषयोंके समस्त संस्कार भी विलुप्त हो गये। उनकी विचित्र ही दशा हो गयी।

निष्पन्दानि विलोचनानि विगलच्छृङ्खलानि गेहं प्रति
स्वान्तानि प्रहताः समस्तविषये संस्कारशेषा अपि।
निर्हामानि बभूवुरेव भवनान्याभीरवामभ्रुवां
मात्रा कौतुककुप्यया द्रुतशिशोर्बन्धानुबन्धे कृते॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पुत्रको बाँधनेके प्रयत्नमें व्रजेश्वरी भी अब सर्वथा श्रान्त हो गयी हैं। समस्त अङ्गोंसे प्रस्वेदकी धारा बह रही है। वेणी तो कभी स्खलित हो चुकी थी, मालतीमालासे मैयाने केशोंको अवरुद्ध कर रखा था; पर अब वह माला भी टूट गयी है, ग्रथित मालतीकुसुम यत्र-तत्र बिखर गये हैं। बस, जननीका यही परिश्रम अपेक्षित था, यह परिश्रम श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें भर गया। भरते ही कृपाशक्ति प्रकट हो गयी तथा श्रान्त, हताश, निराश जननी 'मैं नीलमणिको नहीं बाँध सकूँगी, फिर भी अन्तिम बारके लिये प्रयत्न कर लूँ' यह सोचकर ज्यों ही गाँठ लगाने चलीं कि श्रीकृष्णचन्द्रने बन्धन स्वीकार कर लिया। जननीने बाँधनेके उद्देश्यसे जो पट्टडोरी अपनी कबरीसे सर्वप्रथम निकाली थी, उसीसे श्रीकृष्णचन्द्र बँध गये—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १८)

व्रजेश्वरीका उद्देश्य पूर्ण हो गया। उनके लिये उनके पुत्रकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने अपने नित्यमुक्त स्वामीको बन्धनमें डाल दिया। साथ ही इस परम

मनोहर लीलाके अन्तरालमें स्वयं श्रीकृष्ण-जननीको ही निमित्त बनाकर प्रपञ्चमें अवस्थित जीवोंके लिये भी वे एक परम गूढ़ रहस्यका दिव्य संकेत छोड़ती गयीं। पट्टडोरीसे व्यक्त होनेवाली दो अंगुलकी न्यूनता एवं न्यूनता-पूर्तिकी ओटसे लीलाशक्ति यह मूक संदेश देती गयी—जगत्के जीवो! सुनो, देखो, यदि तुम परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधना चाहते हो तो उनके बन्धनका रहस्य जान लो—

भजजनपरिश्रमो निजकृपा चेति द्वाभ्यामेवायं बद्धो भवति चान्यथेति। यावत्तद्द्वयानुत्पत्तिरासीत्तावदेव दाम्नां द्व्यङ्गुलन्यूनताऽऽसीत्। सम्प्रत्युभयमेव जातमिति पुनरुद्यममात्रे तया क्रियमाण एव बन्धनमुरीचकार।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

"भक्तका 'भजन-परिश्रम' एवं सर्वेश्वरकी 'स्वनिष्ठ कृपा'—इन दोनोंके व्यक्त होनेपर ही सर्वेश्वर बन्धन स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त उन्हें बाँधनेका अन्य कोई साधन नहीं। जननीके जीवनमें प्रत्यक्ष देख लो, जबतक उपर्युक्त 'भजन-परिश्रम' एवं 'श्रीकृष्ण-कृपा'—ये दोनों अभिव्यक्त नहीं हुए थे, तबतक इन दोनोंकी सूचनाका संकेत बनकर डोरी भी दो अंगुल न्यून हो रही थी। अब देखो, दोनोंका आविर्भाव हुआ कि बस, तुरंत जननीके द्वारा उद्यममात्र होते ही श्रीकृष्णचन्द्रने बन्धन अङ्गीकार कर लिया।'*

श्रीकृष्णचन्द्र स्वेच्छासे ही बन्धनमें आये हैं। जबतक उनकी इच्छा नहीं थी, तबतक जननी उन्हें नहीं बाँध सकीं। जिस समय वे जननीसे हाथ छुड़ाकर भागना चाहते थे, उस समय उनकी ऐश्वर्यशक्तिको यह प्रतीत हुआ—'मेरे स्वामी जननीका बन्धन स्वीकार करना नहीं चाहते।' फिर क्या था, अविलम्ब वे काम करने लग गयीं; तत्क्षण ही श्रीकृष्णचन्द्रके उदरमें विभुताका विकास हो गया। अवश्य ही विभुताको यह भय अवश्य था कि कहीं मेरे दर्शनसे व्रजेश्वरीके वात्सल्यमसृण हृदयमें आघात न लग जाय। इसीलिये जननी एवं अन्य पुरसुन्दरियोंसे अलक्षित रहकर ही वे अपना प्रभाव दिखाने लगीं। बाह्यदृष्टिमें मेखला-परिशोभित उदर ज्यों-का-त्यों बना रहा, उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ; पर उदरकी परिधि अनन्त—अपरिसीम बन गयी। अब विभु उदरको वेष्टित करनेकी सामर्थ्य किसमें है? असंख्य विश्वब्रह्माण्ड भी पङ्क्तिबद्ध होकर उस उदरको नहीं घेर सकते! किंतु जननी जब बन्धन-प्रयाससे श्रान्त हो गयीं, तब कृपाशक्तिका उन्मेष हो गया। कृपाशक्तिके आनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी अन्य समस्त शक्तियाँ या तो छिप जाती हैं, या आवश्यकता होनेपर उन्हींका अनुगमन करने लगती हैं। कृपाने श्रीकृष्णचन्द्रमें बँधनेकी इच्छा जगा दी तथा विभुताको प्रभाव समेट लेनेका संकेत कर दिया। विभुता छिप गयी एवं श्रीकृष्णचन्द्र बन्धनमें आ गये। श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्य एवं

---

* सर्वेश्वर भगवान्के भजनमें भक्त जब कायमनोवाक्यसे संलग्न होता है, निरन्तर साधना चलती है, तब साधकका अहंकार भी विगलित होकर साधनजनित ही एक अनिर्वचनीय श्रान्ति—भगवत्-साक्षात्कारके लिये चरम सीमाकी गम्भीर व्याकुलता उत्पन्न होती है; व्याकुलता उत्पन्न हुई कि भगवान्में कृपाका आविर्भाव हो जाता है। फिर साक्षात्कार तो हो ही जाता है, भगवान् भक्तका बन्धन भी स्वीकार कर लेते हैं—भक्तके वशीभूत हो जाते हैं। अवश्य ही भगवान्के नित्यपरिकरोंका भजन, भजन-परिश्रम एवं उससे प्रकट होनेवाली भगवत्कृपा तथा साधक भक्तोंका भजन, भजन-परिश्रम एवं तज्जन्य भगवत्कृपा—इन दोनोंकी जाति, रूप एवं प्रकारमें महान् अन्तर होता है। इस लीलामें व्रजेश्वरीके भजनका रूप है—वात्सल्यरसलिप्सु श्रीकृष्णचन्द्रको बन्धनमें डालनेका प्रयास, यह सफल न होनेपर उनकी निराशामयी व्याकुलता ही उनका भजन परिश्रम है तथा फिर श्रीकृष्णका बन्धन-स्वीकारके लिये बाध्य हो जाना ही उनकी कृपाका प्रकाश है। किंतु ऐसे भजनकी कल्पना साधक भक्तोंमें होनी असम्भव-सी है, उनके लिये तो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक श्रवण-कीर्तनादिरूप भजन ही सम्भव है।

कृपाके इस चमत्कारको न तो व्रजरानीने जाना, न गोप-सुन्दरियोंने। व्रजेश्वरीने तो यही समझा—'मुझे चित्तभ्रम हो गया था, व्यर्थमें ही मैंने इतनी डोरियाँ एकत्र कीं; भला, नीलमणिको बाँधनेके लिये इतनी डोरियोंकी क्या आवश्यकता थी। वह अपने अङ्गोंको हिला रहा था, इसीलिये मैं डोरीके छोरोंको मिलाकर गाँठ नहीं दे पाती थी; अन्तमें वह शान्त हो गया कि मैंने गाँठ लगा दी।'

अस्तु, उदर-बन्धन तो हो ही चुका था। जननीने उसमें दो-तीन पट्टडोरियाँ और जोड़ दीं; जोड़कर डोरीके दूसरे छोरको पास पड़े हुए एक ऊखलसे बाँध दिया तथा ऐसी गाँठें लगा दीं कि श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें कदापि खोल न सकें। इतना करके तब कहीं जननीने संतोषका श्वास लिया।

अबतक श्रीकृष्णचन्द्रके बहुत-से शिशुसखा वहाँ आ पहुँचे थे। अपने सखाकी यह दशा देखकर उन सबका मुख म्लान हो रहा था। जननीने उनकी ओर देखा एवं उन्हें पुचकारकर बोलीं—

भो भो भवद्भिरवलोकनीयोऽयं स्वयमात्मानं मोचयित्वा यदि पलायते तदाहमाकारणीयेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पुत्रो! इसे तुम सब देखते रहना, भला! और देखो, यदि यह बन्धन खोलकर भागने लगे तो मुझे पुकार लेना।'

बालकोंको उपर्युक्त आदेश देकर जननी श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगती हैं। अन्य गोप-सुन्दरियाँ प्रस्तर-प्रतिमाकी भाँति खड़ी हैं। उन्हें इतना तो भान है कि मैयाने अन्तमें श्रीकृष्णचन्द्रको बाँध ही लिया; पर इससे पूर्व जो उन्होंने आश्चर्य देखा है, उसका प्रभाव अभीतक उनपर है; वे प्रकृतिस्थ नहीं हो पायी हैं। केवल एक गोपीमें, मानो किसी अज्ञात-शक्तिने, उसमें चेतना भर दी हो, इस प्रकार जननीकी सारी चेष्टाओंको देखनेकी क्षमता आ पायी है। उसने श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखा। बन्धनसे पूर्व तो वे प्रायः शान्त-से हो गये थे; पर ज्यों ही मैयाने ऊखलमें गाँठ लगायी कि उनके नेत्रोंसे पुनः झर-झर करता हुआ अश्रुप्रवाह बह चलता है। यह देखते ही गोपी तो व्याकुल हो गयी। इतनेमें मैया आँगनकी ओर मुड़ जाती हैं। अब गोपीसे रहा नहीं गया। आगे बढ़कर वह व्रजेश्वरीका हाथ पकड़ लेती है तथा नन्दनन्दनको शीघ्र-से-शीघ्र छुड़ा लेनेके उद्देश्यसे उनके मुखचन्द्रकी ओर देखनेके लिये उनसे प्रार्थना करती है—

मुख-छबि देखि हो, नँद-घरनि!
सरद-निसि कौ अंसु अगमित इंदु आभा हरनि॥
ललित श्री गोपाल-लोचन-लोल-आँसू-झरनि।
मनहुँ बारिज बिथकि बिभ्रम परे पर-बस परनि॥
कनक-मनिमय-जटित-कुंडल-जोति जगमग करनि।
मित्र मोचन मनहुँ आए तरल गति द्वै तरनि॥
कुटिल कुंतल, मधुप मिलि मनु, किधौं चाहत लरनि।
बदन-कांति बिलोकि, सोभा सकै सूर न बरनि॥

ऊखलसे बँधे हुए दामोदरका यमलार्जुन बने हुए कुबेर-पुत्रोंपर कृपापूर्ण दृष्टिपात

कज्जलमिश्रित अश्रुप्रवाह उनके कपोलोंको सिक्त कर रहा है; आकुल नेत्र बारम्बार आभीरसुन्दरियोंसे कुछ मूक विनय, दया-याचना-सी कर रहे हैं; कुन्तलराशि मुखचन्द्रपर बिखर गयी है—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय करुण-अवस्थामें ऊखलसे बँधे खड़े हैं। गोपसुन्दरियाँ उन्हें घेरे खड़ी हैं। सभी चाहती हैं—व्रजेश्वरी अब द्रवित हो जायँ, स्वल्प अपराधके लिये पर्याप्त दण्ड वे अपने नीलमणिको दे चुकीं। एकने यशोदारानीसे बन्धन खोल देनेकी प्रार्थना की—

जसुदा! तेरौ मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै॥

दूसरी समझाने लगी—

जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखि कौ जायौ।
कहा भयौ जो घर कैं ढोटा चोरी माखन खायौ॥

सीसरीने भी समझाया—

जसुदा! यह न बूझि कौ काम।
कमलनैन की भुजा देखि धौं, तैं बाँधे हैं दाम॥
पुत्रहु ते प्यारौ क्रोड है री, कुल-दीपक मनि-धाम।
हरि पर वारि डारि सब तन-मन-धन, गोरस अरु ग्राम॥

एक वृद्धा गोपीमें तो कुछ दैवी आवेश हो गया, उसके नेत्रोंमें रोष भर आया, सारे अङ्ग किसी विचित्र तेजःपुञ्जसे व्याप्त हो गये। वह यशोदारानीकी भर्त्सना करती हुई भगवत्तत्त्वकी बातें बताने लगी और श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़ देनेके लिये व्रजेश्वरीको शपथ देने लगी—

(जसोदा!) तेरौ भलौ हियौ है, माई!
कमल-नैन माखन कैं कारन बाँधे ऊखल ल्याई॥
जो संपदा देव-मुनि दुर्लभ, सपनेहुँ देइ न दिखाई।
याही तैं तू गर्ब भुलानी, घर बैठें निधि पाई॥
जो मूरति जल-थल में व्यापक, निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तैं अपनें आँगन, चुटकी दै जु नचाई॥
तब काहू सुत रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घर के लरिका सौं इती करति निठुराई॥
बारंबार सजल लोचन करि, चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ, छोरि तू, तेरी सौंहैं दिवाई॥
सुर पालक, असुरनि उर सालक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास प्रभु की यह लीला, निगम नेति नित गाई॥

किंतु व्रजेश्वरीका हृदय तो आज मानो पाषाण बन गया है। वे किसीकी बातसे तनिक भी द्रवित नहीं होतीं। अपि तु सबका इतना आग्रह देखकर उलटे खीझ जाती हैं और कहने लगती हैं—

जाहु चली अपनें-अपनें घर।
तुमहिं सबनि मिलि ढीठ करायौ, अब आई छोरन बर॥
मोहि अपने बाबा की सौंहैं, कान्हहि अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपनें-अपनें सब, लागति हौं मैं पाउँ॥
मोकौ जनि बरजौ जुबती कोउ, देखौ हरि के ख्याल।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, बड़े नंद के लाल॥

व्रजरानी इतनी कठोर तो कभी नहीं थीं! उन्होंने इतना रूक्ष व्यवहार तो हम सबसे आजतक कभी नहीं किया! गोपरामाओंके हृदयमें ठेस-सी लगती है। उन सबमें रोषका संचार हो जाता है। वे बोलीं—

ऐसी रिस तोकौं, नँदरानी!
भली बुद्धि तेरें जिय उपजी, बड़ी बैस अब भई सयानी॥
ढोटा एक भयौ कैसेहु करि, कौन-कौन करबर बिधि मानी।
क्रम-क्रम करि अब लौं उबरयौ है, ताकौं मारि पितर दै पानी॥
को निरदई रहै तेरें घर, को तेरें सँग बैठे आनी।

तथा हृदयमें दुःखका भार लिये, अत्यन्त उदास, अतिशय खिन्न वे अपने घरकी ओर चल पड़ीं—

सुनहु सूर कहि-कहि पचि हारीं, जुवतीं चलीं, घरनि बिरुझानी॥

पुरसुन्दरियाँ मुझे जननीके अनुशासनसे, जननीप्रदत्त बन्धनसे मुक्त कर देंगी—श्रीकृष्णचन्द्रकी यह आशा टूट गयी। अब वे अश्रुपूरित कण्ठसे अग्रज बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगते हैं; किंतु अग्रज यहाँ कहाँ; वे तो जननीके साथ उपनन्द-गृहमें हैं। फिर भी अनुजका आह्वान व्यर्थ नहीं होता। रोहिणी मैया कुछ भी न जान सकीं, पर रोहिणीनन्दन बलरामके हृत्तन्तुओंपर श्रीकृष्णचन्द्रका करुण क्रन्दन झंकृत हो उठा। वे व्याकुल हो उठे। माताके लौटनेमें तो अभी पहरभरका विलम्ब है। इतना धैर्य राममें कहाँ? वे भाग चले, क्षणोंमें ही निर्विघ्न नन्दभवनके समीप जा पहुँचे। मार्गमें कोई बाधा नहीं आयी; क्योंकि योगमायाने उपनन्दपत्नी एवं श्रीरोहिणीके स्मृति-पथमें, 'राम यहीं

खेल रहा है या कहीं चला गया?' इस प्रश्नके सामने एक झीनी चादर डाल दी थी। अस्तु—

नन्दप्राङ्गणसे लौटती हुई कुछ व्रजपुरन्ध्रियोंने बलरामकी ओर देखा एवं बलरामने उनकी ओर। एक अतिशय व्यथित गोपी चटपट श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखल-बन्धनकी सारी बात रामको सुनाने लगी—

हलधर सौं कहि ग्वालि सुनायौ।
प्रातहिं तैं तुम्हरौ लघु भैया जसुमति ऊखल बाँधि लगायौ॥

फिर तो रोहिणीनन्दन दौड़ पड़े, श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आये। पर आह! अनुजकी दशा देखकर रोहिणीनन्दनके नेत्र तो छल-छल करने लगे—

यह सुनि कै हलधर तहँ धाए।
देखि स्याम ऊखल सौं बाँधे, तबहीं दोउ लोचन भरि आए॥

बलराम अपने हाथसे यशोदारानीका अञ्चल धारणकर गद्गद कण्ठसे बोले—

स्यामहि छोरि मोहि बाँधै बरु, निकसत सगुन भले नहिं पाए।
मेरे प्रान-जिवन धन कान्हा, तिन के भुज मोहिं बाँधे दिखाए॥

ओह! अग्रजकी बात सुनते ही यशोदारानीके प्राणोंमें टीस-सी चलने लगी। उन्हें भान हुआ कि अब कठोरताके इस झूठे स्वाँगका निर्वाह करना उनके लिये तो असम्भव है; किंतु नहीं, उसी क्षण अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके मनको अपने हाथोंमें ले लिया। व्रजेश्वरी तो उमड़ते हुए वात्सल्य-सिन्धुमें बहने जा रही थीं, पर लीलाशक्ति उन्हें बाहर निकाल ले आयीं तथा उनपर अपना हाथ फेरकर कुछ समयके लिये धैर्य धारण करने योग्य बना डाला। अवश्य ही मैया अग्रजको बोलकर उत्तर न दे सकीं। केवल उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए अपना सिर किंचिन्मात्र हिला पायीं।

अब तो रोहिणीनन्दनको क्रोध हो आया। नेत्र और भी अरुण हो उठे। कुछ क्षण तिरछी चितवनसे जननीकी ओर देखकर वे बोले—

काहे कौं कलह नाध्यौ, दारुन दाँवरि बाँध्यौ,
कठिन लकुट लै तैं त्रास्यौ मेरे भैया।
नाहीं कसकत मन, निरखि कोमल तन,
तनिक-से दधि काज, भली री तू मैया॥
हौं तौ न भयौ री घर, देखत्यौ तेरी यौं अर,
फोरतौ बासन सब जानति बलैया।
सूरदास हित हरि लोचन आए हैं भरि,
बलहू कौं बल जाकौं, सोई री कन्हैया॥

इस बार जननी मन-ही-मन हँस पड़ती हैं। साथ ही यह अनुभव करती हैं कि अब यहाँ और रुकना उचित नहीं; अन्यथा वे अपना धैर्य खो बैठेंगी, तथा इस प्रकार अबतकका सारा प्रयास निष्फल हो जायगा। इस विचारसे व्रजेश्वरी पार्श्ववर्ती प्राङ्गणमें चली जाती हैं। यहाँ रह जाते हैं—गोपशिशुओंसे आवृत, ऊखलमें निबद्ध श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी ओर सकरुण दृष्टिसे देखते हुए रोहिणीनन्दन बलराम। इनके अतिरिक्त अन्तरिक्षमें अवस्थित हैं अमरवृन्द, जो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस भक्तवत्सलताको निहार-निहारकर आनन्दसिन्धुमें डूब-उतरा रहे हैं। क्यों न हों? सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका जननीके प्रति यह आत्मसमर्पण इस योग्य ही है। समस्त लोकपालोंके सहित यह परिदृश्यमान जगत् जिनके वशमें है, जिनपर किसीका बन्धन—शासन नहीं है, जो नित्य परम स्वतन्त्र हैं, उन अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन, यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने जननीके द्वारा दिये हुए बन्धनको स्वीकार कर आज वास्तवमें अपनी भक्ताधीनताको प्रत्यक्ष प्रकट जो कर दिया है—

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। १९)

जिस कृपा-वैभवका आस्वाद व्रजेश्वरीने पाया, उसे आजतक नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न, प्रापञ्चिक भक्तोंके आदिगुरु जगत्-विधाता ब्रह्माने भी न पाया, आत्मस्वरूप शंकरने भी कभी उसे अनुभव न किया, वक्षःस्थलविलासिनी लक्ष्मीको भी वह न मिला। मुक्तिपर्यन्त पुरुषार्थदाता श्रीकृष्णचन्द्रसे जो प्रसाद गोपमहिषीने पाया वह किसीने नहीं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। २०)

आज यह भी प्रत्यक्ष हो गया—यशोदानन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको अनायास सुखपूर्वक पा लेनेका मार्ग कौन-सा है। व्रजवासियोंके समान केवल प्रेमके लिये ही प्रेम करनेवाले भक्तोंको वे जितने सुलभ

हैं, उतने सुलभ किसी भी प्राणीके लिये नहीं—और सो क्या अपने आत्मभूत तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी नहीं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २१)

यह सब प्रत्यक्ष देखकर, अनुभव कर देववृन्द तो आनन्दमत्त हो गये हैं; किंतु यशोदारानीके ध्यानमें, बस, इतनी-सी बात है कि अपने चञ्चल नीलमणिको उन्होंने कुछ क्षणोंके लिये ऊखलसे बाँध दिया है। 'भर्त्सनासे अपनेको अपमानित मानकर, रूठकर कहीं वह वनकी ओर एकाकी भाग न जाय—इसकी उचित व्यवस्थामात्र मैंने की है।' वे तो इतना ही जानती हैं। इसीलिये दूसरे कक्षमें जाकर निश्चिन्त मनसे गृहकार्यमें संलग्न हो गयी हैं।

इधर अनुजके प्रति इतनी कठोरता एवं अपनी प्रार्थनाकी जननीकृत उपेक्षा—दोनों ही रोहिणीनन्दनके लिये असह्य हो जाती हैं। वे क्रोधसे दाँत पीसने लगते हैं, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका क्रन्दन क्रमशः शान्त होने लगता है। जबतक गोपसुन्दरियाँ थीं, जननी उपस्थित थीं, तबतक तो वे अत्यन्त व्याकुल थे। पर उनके जानेके कुछ क्षणोंके पश्चात् ही वे शान्त होने लगे। धीरे-धीरे क्रन्दन समाप्त हो जाता है और अब तो उसके बदले उनके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है। अवश्य ही अभी यह मुसकान व्रजरानीके वात्सल्यरसपानसे मत्त हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको विस्मृत हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी नहीं है; यह मुसकान है उनके अधरोंकी ओटमें उनके लीलामञ्चकी अधिष्ठात्री योगमायाकी! वह व्यक्त हुई है अतिशय व्याकुल बलरामको आश्वासन देनेके लिये, क्षणभरके लिये बलराममें उनके अनुजके अनन्त असमोर्ध्व ऐश्वर्यका उन्मेष कर उनकी चिन्ता हर लेनेके लिये, साथ ही रसपानप्रमत्त श्रीकृष्णचन्द्रमें एक सुदूर अतीतकी—अपने परम भक्त नारदके द्वारा दी हुई प्रतिश्रुतिकी स्मृति जगानेके लिये। उस मुसकानने रोहिणीनन्दनकी चिन्ता हर ली। ठीक वैसी ही एक किरण उनके अधरोंपर भी व्यक्त हो जाती है तथा नेत्रोंमें ऐश्वर्यका चित्रपट भर जाता है—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बाँधे, को छोरै इन कौं, यह महिमा येई पै जाने॥
उलटति-प्रलय करत हैं येई, सेष सहस-मुख सुजस बखाने।
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने॥
असुर-सँहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव-भक्ति के, अति हित जसुमति हाथ बिकाने॥

श्रीकृष्णचन्द्र भी मानो जाग-से उठते हैं। नन्दसदनके समीप खड़े गगनचुम्बी यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर उनकी दृष्टि चली जाती है। उसी क्षण बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी सर्वज्ञता-शक्ति संकेत करने लगती है—'लीलाविहारिन्! दामोदर! देखो नाथ! देवपरिमाणसे शतवर्ष पूर्वसे ये युग्म अर्जुन-वृक्ष यहाँ आकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुबेरपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव ही वृक्ष बनकर तुम्हारी कृपाकी बाट देख रहे हैं! धनमदने इन्हें अंधा कर दिया था, किंतु तुम्हारे परम भक्त देवर्षि नारदकी इनपर कृपा हुई। देवर्षिने शाप देकर इन्हें वृक्षयोनि दे दी, अनुग्रह करके तुम्हारे क्रीड़ा-प्राङ्गणके किनारे निवास दे दिया। तबसे बारंबार ग्रीष्मके आतपका, पावसकी झड़ीका, शिशिरके हिमका और पवनके प्रचण्ड झंझावातका उपभोग करते हुए ये अपनी सारी मलिनता धो चुके हैं। अब समय पूर्ण हो चुका है, नाथ! अपना पावन स्पर्श दानकर इन्हें कृतार्थ करो, प्रभो! अवसर भी सुन्दर है, जननी गृहकार्यमें व्यस्त हैं।'—

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २२-२३)

सर्वज्ञताशक्तिके उपर्युक्त संकेतपर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी स्वीकृति दे देते हैं—

हरि चितए जमलार्जुन के तन।
अबहीं आजु इन्हैं उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन॥
× × ×
ये सुकुमार, बहुत दुख पायौ, सुत कुबेर के तारौं।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन, यह बंधन निरवारौं॥

यमलार्जुनके अतीत जन्मकी कथा; यमलार्जुन-उद्धार

मन्दाकिनीका कल-कल नाद कैलासके उस सुरम्य उपवनको मुखरित कर रहा था। पुष्पित तरुश्रेणी, लतिकाएँ मन्द समीरका स्पर्श पाकर झूम रही थीं। राशि-राशि विकसित पद्मोंके सौरभसे समस्त वनस्थली सुरभित हो रही थी। शिखरका यह मनोरम दृश्य देवर्षिके भक्तिरसभावित चित्तमें नवरसका संचार कर रहा था, उनकी स्वरब्रह्मविभूषित देवदत्त-वीणासे झरती हुई रागलहरीमें, श्रीमुखसे निस्सृत हरिगुणगानमें प्रतिक्षण नव उल्लासका हेतु बन रहा था। पर वही शोभा कुबेरतनय नलकूबर एवं मणिग्रीवके विषयविदूषित मनमें नव-नव भोगवासना उद्दीप्त कर रही थी, उनकी उद्दाम भोगप्रवृत्तिमें और भी आसुरभाव भरनेमें कारण बन रही थी। एक ही वस्तु पात्रभेदसे एक ही समय अमृत एवं विषके रूपमें परिणत हो रही थी। देवर्षि हरियशसुधाका पान करते हुए, सुधारससे उपवनको प्लावित करते हुए नर-नारायण-आश्रमकी ओर अग्रसर हो रहे थे तथा ये दोनों यक्षबन्धु अमर वारविलासिनियों (अप्सराओं)-का दल एकत्र कर, वारुणी मदिराका पान कर, भगवान् शंकरके इस परम पावन तपोवनको भ्रष्ट करते हुए निरङ्कुश विहार कर रहे थे। अप्सराएँ विवस्त्रा थीं, ये दोनों भी दिगम्बर थे, मन्दाकिनीकी पुनीत धारामें प्रवेश कर उन्मत्त जलक्रीड़ामें संलग्न थे, अपने-आपको भूल-से गये थे। दैवयोगवश देवर्षि ठीक उसी स्थानसे होकर निकले। अप्सराओंकी दृष्टि उनपर पड़ी; सब-की-सब सकपका गयीं और लज्जित तथा शापशङ्कित होकर बाहर निकल आयीं, तटपर आकर शीघ्र-से-शीघ्र सबने वस्त्र धारण कर लिये—

रजत गिरि चढ़त जहँ बीचि सुरसरि बहति।
निकट तट बिटप तहँ बेलि सुमननि लहति॥
अमल जल कमल मकरंद झुकि-झुकि झरत।
पिवत मधु मधुप, कलहंस कलरव करत॥
धनद-सुत करत तहँ केलि तरुनिनि सहित।
मदन-मद छकित, मदमत्त, बसननि रहित॥
मुनिहि लखि निलज जुग भ्रात बिलसत ब्यसन।
सकल तिय सकुचि, डर मानि धर तन बसन॥

पर ये दोनों कुबेरपुत्र? आह! इन्हें तो देवर्षिके आगमनका भान होकर भी भान नहीं। वैसे ही नग्न, उन्मत्त रहकर दोनों भुजा उठाये अप्सराओंको पुनः जलमें ही अत्यन्त शीघ्र उतर आनेके लिये चीत्कार कर रहे थे!

एक अचिन्त्य शक्तिने देवर्षिकी दृष्टि उनकी ओर फेर दी। उन्होंने देखा, देखते ही अन्तःकरण करुणासे आर्द्र हो उठा—'ओह! कहाँ तो ये कुबेरपुत्र और कहाँ इनकी यह दशा! इतना अधःपात!' तत्क्षण देवर्षिने उन्हें परिशुद्ध कर देनेकी, साथ ही उनके अनादि भवप्रवाहका भी अन्त कर देनेकी व्यवस्था कर दी। अपने परम अनुग्रहको क्रोधके आवरणमें छिपाकर, उसे शापका रूप देकर वे पुकार उठे—'जाओ, कुबेरतनय! तुम दोनों अपनी इस जडताके अनुरूप ही योनि ग्रहण करो—वृक्ष बनकर जन्म धारण करो; किंतु वृक्ष बनकर भी तुम्हारी स्मृति नष्ट नहीं होगी, मेरे अनुग्रहसे तुम्हें इस अतीत जीवनका सतत स्मरण रहेगा। सदा पश्चात्तापकी अग्निमें जलते रहोगे और फिर सौ देववर्षोंके अनन्तर श्रीकृष्णचरणारविन्दके स्पर्शका परम सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होगा। उस पुनीत स्पर्शसे तुम्हें पुनः देवत्व प्राप्त होगा, पुनः देवशरीरमें तुम लौटोगे। साथ ही परम दुर्लभ हरिभक्ति भी तुम्हें मिल जायगी। सदाके लिये परम कृतार्थ होकर ही तुम लौटोगे—

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥
वासुदेवस्य सांनिध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वलोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥
(श्रीमद्भा० १०। १०। २१-२२)

सुत राजराज! नहिं कीन्ह लाज।
ब्रजभूमि सोइ द्रुम होहु दोइ॥
करुना-सुऐन, सुख-संत दैन।
करिहै जु घात, तब होहु पात॥
प्रभु कौं निहारि, उर भक्ति धारि।
फिरि जाहु गेह, धरि दिव्य देह॥

यह कहकर देवर्षि चले गये तथा नलकूबर एवं मणिग्रीव यमलार्जुनवृक्ष बनकर उत्पन्न हुए वहाँ, जहाँ वर्षोंकी प्रतीक्षा पूर्ण होनेपर गोलोकविहारी स्वयंभगवान् पुरुषोत्तम गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्रके परमधामका अवतरण हुआ—जहाँ, जिस अरण्यप्रदेशमें नन्दप्राङ्गणका आविर्भाव हुआ। उसी प्राङ्गणके एक पार्श्वमें खड़े अपने शाखापत्रोंको प्रकम्पित कर बारंबार श्रीकृष्णचन्द्रका वे आतुरतापूर्वक आह्वान कर रहे थे।

अतीतकी ये सारी घटनाएँ ऊखलमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रके समक्ष वर्तमान बनकर आ जाती हैं। बनकर आयीं, यह भी कथनमात्र ही है। वास्तवमें तो ये उनके लिये नित्य वर्तमान ही हैं। केवल लीलाशक्ति उन बाल्यलीलाविहारीकी रुचिका अनुसरण करते हुए, उन्हें व्यवधानशून्य रसपान करानेके लिये उनकी ही आज्ञासे, उन घटनाओंपर यथायोग्य अतीत-अनागतकी यवनिका डाले रहती हैं। उपयुक्त अवसर आते ही उसे हटा देती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंको छूकर उन्हें जगा देती हैं, फिर श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ देखने लगते हैं। अस्तु, आज भी वे इसी प्रकार सब देख रहे हैं और सोच रहे हैं—

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २५)

'देवर्षि नारद मेरे प्रियतम भक्त हैं। उन महात्मा ऋषिने जिस प्रकार इन वृक्ष बने हुए कुबेरपुत्रोंके उद्धारकी बात अपने मुखसे कह दी है, ठीक उसी प्रकार मैं इनका उद्धार करूँगा, इन्हें वृक्षयोनिसे मुक्त कर पुनः देवदेह देकर अपनी भक्ति भी दे दूँगा।'

इधर गोपशिशुओंकी दशा विचित्र ही है। अपने प्रिय सखाको जननीके बन्धनसे मुक्त करनेके लिये वे अतिशय व्याकुल हैं। अपनी विविध बाल-चेष्टाओंसे सभी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति सौहार्द एवं सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, परस्पर परामर्श करते हुए युक्ति सोच रहे हैं। साथ ही उन्हें भय है कि कहीं जननी आ न जायँ। इसीलिये सब अतिशय सावधान हैं, रह-रहकर एक उस प्राङ्गणकी ओर जाकर देख आता है कि मैया क्या कर रही हैं। एक शिशु धीरेसे श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाता है। उनके ऊखलमें बँधे श्याम सुकोमल अङ्गोंको हाथसे स्पर्श करता है, पर तुरंत ही जननीके भयसे पीछेकी ओर हटकर देखने लगता है। उसके मनमें एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दनके कानके समीप मुख ले जाकर कहता है—'अरे भैया! तू इसे खोल ले।' फिर अन्यान्य शिशुओंको भी अपने ध्यानमें आये उपायकी सूचना देता है। सभी सहर्ष उसका अनुमोदन करते हैं, कोई संकेतसे, कोई स्पष्ट, सभी धीरे-धीरे कह उठते हैं—'हाँ रे! बस, तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।'

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भी पुनः इसी रसस्रोतमें बह चलते हैं। ऐश्वर्यशक्ति जो अभी-अभी नलकूबर-मणिग्रीवकी दयनीय दशाकी सूचना देने आयी थी, गोपशिशुओंके मृदु मधुर कण्ठसे झरती हुई 'अरे खोल ले, कन्हैया! खोल ले और भाग चल' की मधुधारामें न जाने कहाँसे कहाँ बह गयी और व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र इसीमें पुनः निमग्न हो गये। सखाओंका यह परामर्श स्वीकार कर अतिशय उल्लसित होकर वे अपना बन्धन खोलनेके प्रयासमें लग जाते हैं। पर खोल पायेंगे, इसकी सम्भावना सर्वथा नहीं है। खोल लेना दूर, बन्धनकी गाँठतक उनके हाथ भी नहीं पहुँच पाते। जननीने पहलेसे ही सावधानी रखी है। प्रथम तो उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके कटिदेश और ऊखलमें बहुत कम व्यवधान रखा तथा फिर गाँठ लगायी ऊखलकी उस ओर, उस स्थानपर जहाँ उनके नीलमणि अपने हाथ न ले जा सकें। इसलिये यह युक्ति व्यर्थ सिद्ध हुई। अखिल जगत्के समस्त प्राणियोंका भवबन्धन संकल्पमात्रसे खोल देनेकी सामर्थ्य रखनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रमें आज यह शक्ति जो नहीं कि वे यशोदारानीके दिये हुए उस बन्धनको खोल लें, उस ग्रन्थिको छूतक लें। असफल, निराश, निरुपाय-से हुए वे सखाओंकी ओर देखने लगते हैं।

'अच्छा, ठहर, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, मैं खोल

देता हूँ।' कहकर एक गोपशिशु बन्धन खोलनेकी चेष्टा करने लगा। उसे विलम्ब होते देखकर दूसरा उसकी सहायता करने गया। दोनोंको असफल देखकर तीसरेने प्रयास किया। इस प्रकार क्रमशः कई गोपशिशुओंने गाँठ खोलनेका प्रयत्न किया; पर खुलना दूर, गाँठ हिलीतक नहीं। गोपशिशु नहीं जानते कि गाँठ लगाते समय व्रजेश्वरीने अपने अन्तस्तलमें संचित अनन्त वात्सल्यकी समस्त स्निग्धता उसमें भर दी है, अब उन गोपशिशुओंके हृत्स्रोतसे प्रवाहित सख्यरसकी धारा, भले ही वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो—वात्सल्यकी उस स्निग्धताको धो नहीं सकती। सख्यके स्रोतमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह वात्सल्यकी स्निग्धताको आत्मसात् कर ले।* इसीलिये जननीकी लगायी वह गाँठ अविचल रहती है। शिशुमण्डली उदास-सी हुई व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर देखने लगती है।

इसी समय अवसर देखकर श्रीकृष्णचन्द्रकी सर्वज्ञताशक्ति पुनः एक बार सँभलकर अर्जुन-वृक्षोंकी स्मृति दिलानेके उद्देश्यसे सेवामें उपस्थित हुई। परंतु अपने प्रभु स्वामीकी मुखमुद्रा, गोपशिशुओंकी वह अनुपम प्रेमिल चेष्टाएँ देखकर उसे यह साहस नहीं हुआ कि प्रकट होकर कार्य कर सके। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका वह मधुमय बाल्यावेश भङ्ग हो, जननीके बन्धनसे मुक्ति पानेकी लालसामें, मधुरातिमधुर वात्सल्य-सुधा-रसपानमें पुनः ऐश्वर्यकी किरकिरी मिल जाय—यह तो सेवा नहीं, अपराध होता। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रकी शिशूपम मुग्धताके आवरणमें छिपी रहकर ही, लीलाशक्तिके अञ्चलकी ओटसे ही सर्वज्ञताने सेवा आरम्भ की। पुनः वे यमलार्जुनवृक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंके सामने आ गये और वे सोचने लगे—'मेरी मुक्तिका उपाय तो सरल है·····।' उनके मुखपर उल्लास भर जाता है और वे गोपशिशुओंसे चटपट कह उठते हैं—'भैयाओ! मेरे हाथ पहुँचते नहीं और तुम सबोंसे गाँठ खुली नहीं। अब एक बड़ा ही सुन्दर उपाय है। देखो, यह ऊखल बड़ा भारी है। अकेला तो इसे मैं खींच नहीं सकूँगा। मैं भी खींचता हूँ और तुम सब मिलकर धक्का देकर इसे पीछेसे लुढ़काते चलो। फिर देखो, चलें वहाँ, उन यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर। देखो, दीखते हैं न? उन वृक्षोंके मध्यमें मेरे समा जानेभरको पर्याप्त स्थान है। वहाँ जाकर मैं तो उसके भीतरसे निकल जाऊँगा। पर यह ऊखल उसके भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही मैं इसे टेढ़ा भी कर दूँगा। फिर तो यह समा ही नहीं सकेगा, इस पार ही अटक जायगा। तब फिर उस पारसे मैं डोरीको झटके दूँगा। जहाँ मैंने पूरे बलसे डोरी खींची कि डोरी टूटी। बस, काम हो गया।'—युक्ति सुनते ही गोपशिशुओंके हर्षका पार नहीं रहता।

विचार क्रियामें परिणत होने चला। श्रीकृष्णचन्द्र अपने दोनों घुटने एवं दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते हैं। शिशु अपनी फेंटे कस लेते हैं और जो-जो उनमें अधिक बलवान् हैं, वे ऊखलको पकड़कर ठेलनेका प्रयत्न करते हैं। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे अपनी ओर खींच रहे हैं। उनके अरुण अधरोंपर, सुचिक्कण अरुणाभ कपोलोंपर इसके सूचक चिह्न स्पष्ट अङ्कित हो जाते हैं। ऊखल भी धीरे-धीरे सरकने लगता है। लगभग अठारह मास पूर्व इसी प्राङ्गणमें श्रीकृष्णचन्द्रने रिङ्गणलीला आरम्भ की थी, घुटरुआ चलते हुए वे खेलते थे, श्रीअङ्गोंकी शोभा उस दिन भी ऐसी-सी ही थी—

बंधुक-सुमन-अरुन पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
मृपुर-कलरव मनु हंसनि सुत रचे नीड़, दै ब्रौंह बसाए॥
कटि किंकिनि-बर हार ग्रीव, दर, रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
उर श्रीबच्छ, मनोहर हरि-नख, हेम-मध्य मनि-गन बहु लाए॥
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका, स्रवन-कपोल मोहि सुठि भाए।
भ्रुव सुंदर, करुना-रस-पूरन लोचन मनहुँ जुगल जल-जाए॥
भाल बिसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाए।
मानौ गुरु-सनि-कुज आगें करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए॥

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनु तड़ित छपाए॥
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि, छबि-समूह लै-लै मनु छाए।
सूरदास सो क्यौं करि बरनै, जो छबि निगम नेति करि गाए॥

आज केवल इतना अन्तर अवश्य है कि कटिदेशमें एक ऊखल बँधा है तथा उससे बँधे श्रीकृष्णचन्द्र धीरे-धीरे अर्जुनवृक्षकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उस दिन श्रीकृष्णचन्द्र स्पष्ट बोलना नहीं जानते थे, आज धीरे-धीरे स्पष्ट मधुमिश्रित कण्ठसे, बीचमें ठहर-ठहरकर गोपशिशुओंको सचेत करते जा रहे हैं कि कहीं कोई शिशु कौतूहलवश उच्च स्वरसे कुछ कह न बैठे, अन्यथा जननीके कानोंमें शब्द जाते ही वे दौड़ आयेंगी और समस्त प्रयास व्यर्थ हो जायगा।

इस प्रकार रिङ्गण करते हुए क्रमशः वे अर्जुनतरुके समीप जा पहुँचते हैं। उन्हें निकट आया देखकर उन युग्मवृक्षोंकी क्या दशा हुई, इसे कौन बताये? यह तो सत्य है कि वृक्षोंमें भी संवेदन-शक्ति होती है। उनकी संनिधिमें होनेवाले क्रूर कर्मकी वेदना उन्हें स्पर्श करती है और वे व्यथित होते हैं; समीपमें होनेवाली किसी सुखद घटनाका स्पन्दन उनमें भी होता है और वे सुखकी अनुभूति करते हैं। यह वृक्ष-साधारणकी बात है, इन अर्जुनतरुओंके लिये तो कहना ही क्या है! ये तो शापभ्रष्ट धनदपुत्र हैं। अपने इस परिणतरूपमें भी पूर्वके देवजीवनसे लेकर अबतककी समस्त स्मृति इनमें अक्षुण्ण है। सौ देव-वर्षोंकी सुदीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात् अपने उद्धारका क्षण उपस्थित देखकर, स्वयं ऊखलसे बँधे पर उनका बन्धन-मोचन करनेके लिये उत्सुक भक्तवत्सल स्वयंभगवान् मुकुन्द श्रीकृष्णचन्द्रको अपने इतना निकट पाकर उनके हृदयमें एक साथ किन-किन भावोंका उन्मेष हुआ—इसे वे ही जानते हैं, अथवा जानते हैं अन्तर्यामी। बाह्यदृष्टिसे तो केवल इतना ही देखना-जानना, कहना-सुनना सम्भव है कि श्रीकृष्णचन्द्रको अपने मूलके समीप उपस्थित देखकर एक बार उन वृक्षोंमें कम्पन हुआ, उनके स्कन्ध, शाखा, पत्र—सभी चञ्चल हो उठे! वे यमलार्जुनवृक्ष—नलकूबर-मणिग्रीव यह नहीं जान सके कि भवबन्धनमें पड़े प्राणियोंको एक बार किसी भी भावके द्वारा उनसे सम्बन्ध मान लेनेमात्रमें मुक्तिदान करनेवाले मुकुन्द, बाल्यलीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके दिये हुए उलूखल-बन्धनसे अपनी मुक्ति पानेकी अभिसंधि लेकर उनका आश्रय लेने आये हैं। यह जानना उनके लिये सम्भव ही नहीं। यह तो वे ही जान पाते हैं, जो अचिन्त्य सौभाग्यवश व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अथवा उनके किन्हीं परिकरकी कृपाका एक कण पाकर उनके अनन्त ऐश्वर्यको भूल जाते हैं, जिनके हृदयकी बढ़ती हुई विशुद्ध प्रेमरसधारामें श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य सदाके लिये विलीन हो जाता है, जो सदा उस रस-प्रवाहमें ही बहते हुए केवलमात्र उनसे रागमय सम्बन्ध ही रख पाते हैं, सदा उन्हें अपना सखा, पुत्र, प्राणवल्लभके रूपमें ही अनुभव करते हैं। एकमात्र उनके लिये ही यह कल्पना, भावना, अनुभूति सम्भव है कि अनन्तब्रह्माण्डोदर स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आज दामोदर बने हुए, ऊखल-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अर्जुनवृक्षके समीप आ सकते हैं, आये हैं। उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं जान सकता। इसीलिये यमलार्जुनवृक्षोंको यह कल्पना नहीं हुई। उन्होंने सर्वसाधारणकी भाँति यही जाना कि अपने परम भक्त देवर्षिकी बात सत्य करनेके लिये, उनका (यमलार्जुनका) उद्धार कर उन्हें परम कृतार्थ करनेके लिये, ऊखल खींचते हुए धीरे-धीरे चलकर उनके निकट वे आ पहुँचे हैं—

ऋषेर्भागवतपुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २४)

—तथा यह देखकर ही, जानकर ही अपने शाखापत्रोंको स्पन्दितकर वे नाच उठे हैं।

अब विलम्बका समय नहीं है। कहीं यशोदारानी आ न जायँ! वे गोपशिशु कौतूहलभरी दृष्टिसे उन गगनस्पर्शी वृक्षोंकी ओर देखने लगते हैं। इतनेमें तो श्रीकृष्णचन्द्र युग्म वृक्षोंके अन्तरालसे होकर उस पार

जा पहुँचते हैं। छिद्रमें उनके प्रविष्ट होते ही ऊखल तो अपने-आप टेढ़ा हो जाता है—

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २६)

गोपशिशु उत्साहमें भरकर धीरे-धीरे बोलने लगते हैं—'वाह! वाह!! बस, कन्हैया! भैया!! ऊखल अड़ गया; अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे····।' बालगोपाल श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि अधरोंपर भी एक मन्द मुसकान छा जाती है। वे दामोदर अपनी कटिसे बँधे ऊखलको तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं। बस, फिर तो क्षणभर भी न लगा, अर्जुनतरुओंकी पृथ्वीमें धँसी जड़ें बाहर निकल पड़ीं, प्रकाण्ड मूलशाखा (धड़), अगणित उपशाखाएँ, सघन पल्लवजाल—सभी ऐसे स्पन्दित होने लगे, मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो। दामोदरका बाल्योचित बलप्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो गया और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठा। देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए, अतिशय वेगसे वे दोनों वृक्ष पृथ्वीपर गिर पड़े—

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २७)

अवश्य ही वे इस भाँति ऐसे स्थानपर गिरे जहाँ एक भी गोपशिशु नहीं, एक भी गो-गोवत्स नहीं, गृहरचनाका कोई अंश नहीं, केवलमात्र मणिजटित समतल भूमि है। इसीलिये किसीको भी किंचिन्मात्र भी कोई क्षत न लगा, नन्दप्रासादके किसी अंशको तनिक भी क्षति न पहुँची। किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं; वे जड वृक्षमात्र तो हैं नहीं, धनदपुत्र हैं और अब तो श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका स्पर्श होनेके क्षणसे ही वे उसके निजजन बन गये हैं, उनमें समस्त भक्तगुणोंका विकास हो गया है, अमितशक्ति आ गयी है। वे अपनी किसी भी चेष्टासे किसीको तनिक भी कष्ट दें, यह सम्भव ही नहीं। इसीलिये गिरते समय शापजन्य अपने अन्तिम प्रारब्धका अवसान करते हुए वे वहाँ स्थानके अनुरूप ही अपनी शाखाओंको यथायोग्य संकुचित करते हुए गिरे। व्रजेन्द्रनन्दनके स्पर्शसे पूत हुए नलकूबर-मणिग्रीवकी इस चेष्टामें आश्चर्यकी बात ही क्या है। आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय, वज्रसारके समान युग्म अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षणके वेगसे मूलोत्पाटित होकर टूट पड़े; किंतु जननी यशोदाके वात्सल्यसे प्रेरित, उनके द्वारा निर्मित, आग्रहमय वह बन्धन न खुला। ऊखलमें लगायी उनकी डोरी, ग्रन्थि न टूटी। श्रीकृष्णचन्द्रका वह बन्धन न टूटा—

चित्रं तुनोट तत्तत्र यदुन्मज्जार्जुनद्वयम्।
न पुनर्मातृवात्सल्यनिर्बन्धयदबन्धनम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, जहाँ वे वृक्ष थे, वहाँ एक परम उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है। मानो दो वृक्षोंके मध्यमें दावानल भभक उठा। फिर दोनोंकी ज्योति एकत्र मिल जाय, उनसे दिशाएँ आलोकित हो जायँ, इस प्रकार अपनी सम्मिलित ज्योतिसे दसों दिशाओंको उद्भासित करते हुए दो सिद्धपुरुष उनके अन्तरालसे प्रकट होते हैं और उलूखलनिबद्ध श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर चल पड़ते हैं—

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्ती
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः

(श्रीमद्भा० १०। १०। २८)

ये युगल सिद्ध और कोई नहीं, धनदपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें न्योछावर होने जा रहे हैं—

निकसे द्वभय पुरुष दोउ बीर, पहिरें अद्भुत भूषन चीर।
जैसें दारु मध्य तें आगि, निर्मल जोति उठति है जागि।
नंद-सुवनके पाइन परे, अंजुलि जोरि स्तुति अनुसरे॥

× × ×

द्रुम अंतर ते कढ़े त्रिबिध बंदारक सुखसींव।
गुन-मंदिर सुंदर महा नलकूबर-मनिग्रीव॥

कुबेर-पुत्रोंको स्वरूप-प्राप्ति तथा उनके द्वारा श्रीकृष्णका स्तवन तथा प्रार्थना; श्रीकृष्णकी उनके प्रति करुणापूर्ण आश्वासन-वाणी

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे वे धनदपुत्र—नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं, उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्रकी चरण-नखचन्द्रिकाने उनमें दिव्य ज्ञानका उन्मेष कर दिया है, नवनीरद-श्यामल श्रीअङ्गोंने रसकी सरिता बहा दी है। वे कभी तो उस ज्ञानके आलोकमें व्रजेन्द्रनन्दनके अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यको प्रत्यक्ष अनुभव कर चमत्कृत होने लगते हैं और कभी रसपानसे उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र चकित चञ्चल भीति-विजडित नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके आश्चर्यविस्फारित पर रससिक्त नेत्र निष्पन्द होकर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर लग रहे हैं। यह जानना सम्भव नहीं कि वास्तवमें कितने कालतक उनकी यह दशा रही है। अवश्य ही बाह्य दृष्टिसे देखनेपर तो कुछ ही क्षण बीते हैं और अब वे अखिल-लोकनाथ श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमा गाने जा रहे हैं—

कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २८)

किंतु हर्षातिरेकवश कण्ठ रुद्ध हो जाता है, वे कुछ भी बोल नहीं पाते। नेत्रोंसे अनवरत अश्रुकी वर्षा हो रही है; कपोल, वक्षःस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमण्डित सिरको झुकाकर दूरसे तो वन्दना कर चुके, पर उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणपल्लवसे स्पर्श करा देनेके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। किंतु शरीर विवश हो रहा है, जड-सा बनकर चेष्टाशून्य हो गया है, कुछ क्षणोंके पश्चात् किसी अचिन्त्य शक्तिकी प्रेरणासे उनके हाथोंमें स्पन्दन होता है और वे अनुभव करते हैं—सिरसे तो नहीं, पर हाथ बढ़ाकर कदाचित् चरणसरोजके स्पर्शका सौभाग्य सम्भव हो जाय। इस लालसासे ही वे अपने हाथ श्रीचरणोंके समीप ले जाते हैं। पर बाल्यलीलाविहारीका बाल्यावेश, बाल्यभङ्गिमा कुबेरपुत्रोंको यह सौभाग्य सहजमें देना जो नहीं चाहती। ऊखलसे बँधे होनेके कारण, धराशायी अर्जुन-वृक्षोंके मध्यदेशमें ऊखलके अटके रहनेसे वे भाग तो नहीं सकते, पर अङ्गोंसे अमानव तेजकी किरणें बिखेरते, प्रज्वलित अग्निके समान चमचम करते हुए चार हाथोंको अपने लघु-लघु चरणोंकी ओर आते देखकर वे स्थिर कैसे रह सकते हैं। जितना अधिक-से-अधिक सम्भव है, उतना पीछेकी ओर हटकर वे भागनेका प्रयास करते हैं। अवश्य ही भाग नहीं पाते। किधर जायँ? कैसे जायँ? इसीलिये मुग्ध शिशुकी भाँति भयभीत-से होकर वे अपने करकमलोंको नचा-नचाकर उन्हें स्पर्श न करनेके लिये संकेत करने लगते हैं; फिर तो कुबेर-पुत्रोंमें यह शक्ति कहाँ कि उन्हें छू लें। जगत्‌में यह सामर्थ्य किसमें है जो श्रीकृष्णचन्द्रके न चाहनेपर स्वप्नमें भी क्षणभरके लिये उनकी छायाका भी स्पर्श कर ले? पर नलकूबर-मणिग्रीवके हाथ भी श्रीकृष्णपादारविन्दके स्पर्शका सौभाग्य पाये बिना आज लौटनेवाले नहीं। युगलबन्धुओंके नेत्रोंमें वह व्याकुलता भर आती है, जिसकी सीमा नहीं। बस, यह अपेक्षित थी। कुबेरपुत्र श्रीकृष्णचरणोंको अपने हाथोंसे वेष्टित कर लेते हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। किंतु बाल्यलीलारसमत्त अनन्त-ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र तो उस समय भी एक अभिनव-रस-तरङ्गमें बह चलते हैं। वे सोचने लगते हैं—'जननीके मुखसे अनेकों बार देवताओंके स्वरूपका वर्णन सुन चुका हूँ। ये हैं तो दोनों कोई देवता, पर मेरे चरण क्यों पकड़ते हैं·····?' लीलामयकी यह भावना रसमें सनी रहकर अत्यन्त मसृण होनेके कारण बाहरकी ओर फिसल पड़ी, वे कुबेर-पुत्रोंकी ओर देखकर पुकार ही तो उठे—

कहन लगे हरि तिन तन चाहि, तुम तौ कोउ देवता आहि।
इमि इहि गोकुल-गोप-दुलारे, क्यों हो पकरत पाँव हमारे॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम दिव्य रसमयी भावनाको कौन ग्रहण करे? नलकूबर-मणिग्रीवके पास इसे

धारण करने योग्य पात्र ही कहाँ है? यह तो धारण कर सकती हैं विशुद्ध-राग-परिभावितचित्ता गोपसुन्दरियाँ; इसे ग्रहण कर सकते हैं विशुद्ध-राग-रसिक व्रजपुर-गोप, गोपशिशु; इसे लेनेकी क्षमता है विशुद्ध-वात्सल्य-रसघनमूर्ति व्रजेन्द्रदम्पतिमें—जहाँ जिनके प्रेममें अनन्त-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी गन्धतक नहीं, जिनकी चरण-रज-कणिकाकी छाया पड़नेसे प्रपञ्चके प्राणियोंको विशुद्ध-रागमार्गके पथिक बननेका अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिये नलकूबर-मणिग्रीव इस मधुर रसका आस्वादन न पा सके। व्रजेन्द्रनन्दनकी वह रसमयी वाणी उनके चित्तमें उनकी पात्रताके अनुरूप भावका ही उल्लास कर सकी। उसका रूप यह बन गया। वे कुबेरपुत्र श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमाका गान करने जा रहे थे, पर कण्ठ अश्रुपूरित होकर कर नहीं पा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस रसीली उक्तिसे इतनी प्रबल, ऐसी गम्भीर धारा बह चली कि ऐश्वर्यज्ञान मानो उसमें सर्वथा डूब जानेके भयसे बरबस कण्ठसे बाहर निकलने लगा, नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति करने लगे—

पुलकित सरोज-से करनि जोरि बोले नहीं।
जगतपति-नाथ! तो गुननि-गाथ जानैं नहीं॥
सगुन यह रूप औ निगुन बेदबानी कहैं।
अखिल तुव मध्य है, सकल जानि ग्यानी लहैं॥
सृजन जन लाज काज अवसार धारौ मही।
दनुज-दल दुष्ट पुष्ट बल मारि तारौ तहीं॥
अब करी प्रभो! सुदृष्टि, करुना-कृपा सौं भरी।
अभयपद दान देउ जन जानिये जू हरी॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मारजस्सत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।
अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २९—३६)

'श्रीकृष्णचन्द्र! समस्त विश्वका चित्त आकर्षित करनेवाले नराकृति परब्रह्म! हे परमयोगेश्वर! तुम्हीं समस्त जगत्के आदि हो, तुम्हीं पुरुषोत्तम हो, कार्यकारणात्मक यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुम्हारा ही रूप है—यही अनुभूति तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंको होती है। समस्त भूतोंके देह-प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ—इन सबके स्वामी तो तुम्हीं हो, नाथ! तुम्हीं सर्वशक्तिमान् काल हो, अव्यय तत्त्व हो, सर्वव्यापक हो, सर्वनियन्ता हो। तुम्हीं सत्त्वरजस्तमोमयी सूक्ष्म प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्य हो। तुम्हीं समस्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हो। अधिष्ठाता पुरुष भी तुम्हीं हो, श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हारे द्वारा परिचालित, तुम्हारी सत्तासे ही क्रियाशील प्राकृत मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके द्वारा तुम्हें जान लेना सम्भव नहीं है। नाथ! देह आदिके अभिमानसे बँधा हुआ ऐसा कौन-सा व्यक्ति इस विश्वमें है, जो तुम्हें जान ले? क्योंकि स्वप्रकाशरूप होनेके कारण तुम तो सब जीवोंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी एकरस वर्तमान रहते हो; फिर किस जीवकी सामर्थ्य है कि आदिस्वरूप तुमको जान ले। प्रभो! तुम्हीं वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायण हो, तुम्हीं वासुदेव हो, प्रपञ्चविधाता भी तुम्हीं हो। अपने द्वारा ही प्रकाशित सत्त्वादि त्रिगुणोंसे अपनी महिमाको तुमने आच्छादित करा रखा है। सच्चिदानन्द परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र! ऐसे महामहिम तुमको जान लेनेकी क्षमता हममें कहाँ। इसलिये हम तो तुम्हें प्रणाममात्र करनेके अधिकारी हैं, तुम्हारे चरणसरोजमें प्रणाम कर रहे हैं। भगवन्! जीवकी शक्ति नहीं कि वह ऐसी लीला कर ले, जैसी तुम करते हो। जब कभी भी प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हो, तब-तब ऐसे-ऐसे परम अद्भुत चरित्रोंका प्रकाश करते हो, जिनकी कहीं तुलना नहीं। तुम्हारी ये अतिशय आश्चर्यमयी लीलाएँ

ही प्रमाण बनती हैं, ये अलोकसाधारण लीलाएँ ही इस बातका निर्णय करती हैं कि तुम अशरीर (प्राकृत शरीरसे रहित)-का शरीरधारियोंमें अवतरण हुआ है। वे ही तुम स्वयं इस बार जगत्का ऐहिक-आमुष्मिक-अशेष मङ्गलविधान करनेके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अवतीर्ण हुए हो। भक्तोंके सर्वविध मनोरथोंको पूर्ण करना तुम्हारा नित्य स्वभाव है, नाथ! हे परमकल्याणस्वरूप! तुम्हें नमस्कार है! हे विश्वमङ्गलविधायक! तुम्हें नमस्कार है! परमशान्त! हृत्पद्मविहारिन्! यदुपते! गोपते! तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार!!'

परम पुरुष सबही के कारन। प्रतिपारन तारन संघारन॥
व्यक्त-अव्यक्त जु बिस्व अनूप। बेद बदत प्रभु तुम्हरौ रूप॥
तुम सब भूतन कौ, बिस्तार। देह, प्रान, इंद्री, अहँकार॥
काल तुम्हारी लीला श्रीधर। तुम व्यापी, तुम अव्यय ईश्वर॥
तुमहीं प्रकृति, पुरुष, महतत्व। धर, अंबर आडंबर सत्व॥
तुम हीं जीवन, तुम हीं जीय। सब ठौं तुम, कोउ अवर न बीय॥

× × ×

इंद्रिन करि तुम जात न गहे। प्रगट आहि, पै परत न चहे॥
जैसैं दिष्टि कुंभ कहुँ देखै। कुंभ तौ नहिं न दिष्टि कौं पेखै॥
कुंभ कैं दिष्टि होइ जब-कबहीं। सो तुम-दिष्टिहि देखै तबहीं॥
तातैं तुम कहुँ बंदन करौं। जानि न परहु, परे हैं पौं॥

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करते-करते, उनके पारावारविहीन ऐश्वर्यसिन्धुमें अवगाहन करते-करते कुबेरपुत्रोंकी अनादि-संसरणजनित भ्रान्ति तो मिट ही जाती है, साथ ही उनका चित्त भक्ति-रस-सुधा-पानके योग्य भी बन जाता है। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ सर्वथा धुल जाती हैं, चित्त अतिशय विशुद्ध, निर्मल होकर, भक्ति-पीयूषसिन्धुमें डूबनेके लिये लालायित हो उठता है। इसीलिये अब वे प्रार्थना करने लगते हैं—

वाञ्छामहे किमपि नापरमार्तबन्धो
त्वत्पादपङ्कजपरागनिषेवितसङ्गात्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'दीनबन्धो! हमें और कुछ नहीं चाहिये; बस, इतनी-सी अभिलाषा है कि तुम्हारे चरणपङ्कजसे झरते हुए मकरन्दका पान करनेवाले साधुपुरुषोंका सङ्ग हमें निरन्तर मिलता रहे।'

—तथा यह होकर फिर यह हो जाय—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ३८)

भगवन्! हमारी वाणी निरन्तर तुम्हारा ही मङ्गलमय गुणगान करे, तुम्हारे मधुस्रावी नामरूपगुणलीला आदिके कथनमें नियुक्त रहे। कर्णेन्द्रिय सदा तुम्हारी रसमयी कथाके नाम-रूप-गुणगणके श्रवणमें ही लगी रहे। हमारे हाथ तुम्हारी सेवा-परिचर्याके कर्मोंमें ही व्यस्त रहें। मन तुम्हारे चरणपङ्कजकी स्मृतिमें ही रम जाय। तुम्हारे निवासभूत जगत्के सामने हमारा सिर सदा नत रहे, सबमें तुम्हें व्याप्त देखकर सबके चरणोंमें हम झुक पड़ें। हमारे नेत्र भी केवल निहारा करें तुम्हारे देहभूत संतोंको—

हे करुनानिधि! करुना कीजै, अपनी भाउ-भगति-रति दीजै॥
बानी तुमरे गुन-गन गनै, श्रवन परम पावन जस सुनै॥
ये कर अवर कर्म जिनि करैं, प्रभु की परिचर्या अनुसरैं॥
मन-अलि चरन-कमल-रस रसौ, चित्र कमल-जग भूलि न बसौ॥
हे जगदीस! जसोदा-नंदन, सीस रहौ नित तुव-पद-बंदन॥
तुमरी मूरति भक्त तुम्हारे, नित ही निरखहुँ नैन हमारे॥

कुबेरपुत्र यह कहकर मौन होने लग गये, नहीं-नहीं उनकी वाणी पुनः प्रेमावेशवश स्वतः रुद्ध होने लगी। अस्पष्ट स्वरमें, अश्रुसिक्त कण्ठसे वे इतना और कह पाये—

देवर्षिणा तव पदाब्जमधुव्रतेन
भूयानकारि बत नौ शपता प्रसादः।
लीलालघोढजगदण्डपरःसहस्रो
येन त्वमक्षिविषयोऽद्भुतबालखेलः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'नाथ! तुम्हारे चरणसरोजके मधुपानका ही व्रत रखनेवाले देवर्षिने हमपर यथेष्ट कृपा की। अभिशाप देते समय उसमें अपना पूर्ण अनुग्रह भर दिया। ओह! लवमात्र लीलाके मिससे असंख्य ब्रह्माण्डोंको अपने

अंदर धारण करनेवाले तुम आज इस अद्भुत बालक्रीडाकारी वेशमें हमारी दृष्टिके समक्ष आये हो। उनकी कृपासे ही तो महामहिम तुमको आज हम इस अभिनव शिशुवेशमें देख पा रहे हैं, प्रभो!'

अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने भी उसी समय लीलामञ्चकी डोरी खींच दी। दृश्य बदला और शैशवलीलारसमें निमग्न हुए श्रीकृष्णचन्द्र क्षणभरके लिये सजग होकर ऐश्वर्यके तटपर आ विराजे—अपने भक्तोंकी महिमाका गान करनेके लिये अपने मुखारविन्दसे कुबेरपुत्रोंको कुछ आदेश देकर उनके कर्णपुटोंमें अपने कण्ठकी सुधा भर देनेके लिये, उनकी एक चिरवाञ्छा पूर्ण कर देनेके लिये। इसीलिये आते ही, अधरोंमें मन्द हास्य भरकर वे बोलने लग गये—

ज्ञातं मम पुरैवैतद्विषणा करुणात्मना।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ४०—४२)

'कुबेरपुत्रो! सुनो, इस घटनाको मैं बहुत पूर्वसे ही जानता हूँ। तुम दोनों श्रीमदसे अंधे थे, परम कारुणिक देवर्षिने तुमपर अपनी कृपा बरसायी, शाप देकर तुम्हारा श्रीमद नष्ट कर दिया—यह सब मुझे ज्ञात है। जाओ, पुत्रो! अब तुम्हारे भवप्रवाहका अन्त हो चुका। यह भी देवर्षिके दर्शनका ही प्रसाद समझो। मुक्ति तो तुम्हें उसी दिन मिल चुकी थी, जिस दिन देवर्षिके दर्शन तुम्हें हुए। सुनो, सूर्योदय होते ही जैसे नेत्रोंपर छाया हुआ अन्धकार विलुप्त हो जाता है, वैसे ही समचित्त, मदेकनिष्ठ महापुरुषोंका दर्शन होते ही जीवका अज्ञान-अन्धकार, भवबन्धन भी विनष्ट हो जाता है। तरुयोनि तो तुम्हें मेरी परमाभक्तिकी प्राप्ति करा देनेके लिये प्राप्त हुई थी, बन्धनके लिये नहीं। महापुरुषोंके समागमसे बन्धन होना असम्भव है, उससे तो बन्धनका नाश ही होता है। तुम्हारे बन्धन टूट गये। मेरी अनन्य रति (भक्ति) भी तुम दोनों प्राप्त कर सके हो। जो तुम चाहते थे, वह तुम्हें मिल गयी। अब तुम्हारे लिये संसारमें पुनः पतनका भय सदाके लिये समाप्त हो चुका। अनन्तकालतकके लिये मेरे परायण हुए तुम दोनों अब अपने भवनकी ओर चले जाओ।'

तब बोले हरि करुनाधाम। पूरन हौंहि तुम्हारे काम॥
नारद प्रीतम भक्त हमारो। तुम पर कियो अनुग्रह भारो॥
मो भक्तन को यहै सुभाव। जैसें उदित होत दिनराव॥
सहजहिं निबिड़ तिमिर कौं हरै। अवर बहुत मंगल बिस्तरै॥
पुनि बोले हरि सब गुन-सींव। हे नलकूबर! हे मनिग्रीव!॥
अब तुम गवन भवन कौं करौ। मो माया डर तैं जिमि डरौ॥

नलकूबर-मणिग्रीव कृतार्थ हो गये। उनके प्राण नाच उठते हैं—'कदाचित् एक-दो क्षण भी और यहाँ विराम करनेकी आज्ञा मिल जाती! पर नहीं अब समय नहीं। श्रीकृष्णचन्द्रके समीपमें ही खड़े उन गोपशिशुओंके नेत्रोंमें भय भरा है, यह तो प्रभुके प्रियतम सखाओंके प्रति अपराध हो रहा है।'—कुबेरपुत्र चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने ऊखलमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी परिक्रमा की, उन्हें बार-बार प्रणाम किया; फिर जानेकी सूचना देकर उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े—

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ४३)

इहि प्रकार गुह्यक दुवौ, प्रभु बचननि डर धारि।
बेर-बेर दंडवत करि उत्तर दिशा सिधारि॥

देवर्षिके प्रति उनके हृदयमें अपरिसीम कृतज्ञता उमड़ आयी है। व्रजपुरके कण-कणके प्रति उनके रोम-रोमसे 'धन्य-धन्य' की घोषणा हो रही है—

धन्य-धन्य ऋषि-साय हमारे।
आदि अनादि निगम नहिं जानत, ते हरि प्रगट देह व्रज धारे॥
धन्य नंद, धनि मातु जसोदा, धनि आँगन खेलत भय बारे।
धन्य स्याम, धनि दाम बँधाए, धनि ऊखल, धनि माखन-प्यारे॥
दीन-बंधु करुना-निधि हौ प्रभु, राखि लेहु, हम सरन तिहारे।
सूर स्याम के चरन सीस धरि, अस्तुति करि निज धाम सिधारे॥

वृक्षोंके टूट जानेपर भी श्रीकृष्णको अक्षत पाकर माता-पिताका उल्लास

स्वर्गीय देवोंकी श्रवणशक्ति लुप्त हो गयी थी। नागलोकके प्राणी भी बधिरप्राय हो गये थे, तथा दिङ्नाग प्रकम्पित हो रहे थे। क्षणभरके लिये समस्त ब्रह्माण्डमें उसके अतिरिक्त अन्य कोई शब्द अवशिष्ट नहीं रहा था। ऐसी एक साथ शतसहस्र प्रलयंकर वज्रपातोंकी-सी वह प्रचण्ड ध्वनि अर्जुनवृक्षोंके धराशायी होनेपर हुई थी। किंतु अघटघटनापटीयसी योगमायाने उस ध्वनिको व्रजपुरके धरातलपर तो तबतक प्रकट नहीं होने दिया, जबतक कुबेरतनय नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन कर चले नहीं गये। स्तुतिके समय कितने क्षण, कितने दिन, कितने मास, कितने वर्ष, कितने युग बीते थे, यह कल्पना प्राकृत मनमें समा नहीं सकती; पर जितना भी समय लगा हो, उतने कालतक तो व्रजपुर निश्चितरूपसे नीरव था। अवश्य ही गृहकार्यमें संलग्न गोपसुन्दरियोंकी एवं व्रजराजमहिषीकी कङ्कण-झंकृति, नूपुर-रव रह-रहकर उस नीरवताको भङ्ग कर देते थे। पक्षियोंका कलरव, भ्रमरका गुञ्जन तो इनमें स्थायी स्वरकी भाँति समा गया था। पर ज्यों ही कुबेरपुत्र दृष्टिपथसे ओझल हुए कि बस, समस्त व्रजपुर भी उस प्रचण्ड ध्वनिसे काँप उठा। गोवर्द्धनपरिसर, परिसरकी समलंकृत यज्ञभूमि ऐसी हिल गयी मानो भूकम्प हुआ हो। गोपोंके, गोपरामाओंके अङ्ग ऐसे नाचने लगे, मानो सहसा सबके अङ्गोंमें कम्पवायुका प्रकोप हो गया हो—

तरु टूटत चरके, झरमर झरके, फिरि भर-भरके भूमि परे।
धर थल-थल धरके लोग नगरके, थरथर थरके, चौंकि परे॥
तहँ उर सब नरके, इमि खरखरके, जनु थनतरके झरप तहाँ।
जे गिरत न सरके, ग्रह सब बरके, को कहि हरिके गुननि महाँ॥

नेश्वरीकी भी यही दशा है। साथ ही उन्हें ऊखलमें बँधे अपने नीलमणिकी स्मृति हो आयी है। णचन्द्रका उन्हें विस्मरण हो गया हो, यह बात केवल अभी कुछ देर पहले लीलाशक्तिने उनके एवं नीलमणिके बीचमें अपना आँचल फैला रखा था, उसकी ओटमें मैया अपने जीवनधनको देखकर भी अच्छी तरह नहीं देख पा रही थीं। पर अब अञ्चल हट चुका था, उसकी आवश्यकता नहीं रही थी। इसीलिये मैयाको मानो वहींसे, कक्षकी मणिभित्तिका व्यवधान रहनेपर भी नीलमणिके स्पष्ट दर्शन होने लगे हैं। मैया उस समय भी अपने नीलमणिको खिलानेके लिये दधिमन्थन ही कर रही थीं, पर अब अवकाश कहाँ! तृणावर्तके समय भी ऐसी-सी ही ध्वनि हुई थी—इस संस्कारके जागनेमें देर थोड़े लगी। मैया मन्थनदण्डको फेंककर विद्युद्गतिसे वहाँ उस स्थानपर जा पहुँचती हैं, जहाँ वे अपने नीलमणिको ऊखलसे बाँध गयी थीं। वहाँ तो कोई है ही नहीं। हाँ, उससे कुछ ही दूरपर वे गोपशिशु कोलाहल कर रहे हैं और वे प्रकाण्ड यमलार्जुनवृक्ष धराशायी पड़े हैं—यह मैयाको दीख गया। 'आह! मेरा नीलमणि कहाँ है?'—मैया इतना ही सोच पायीं। फिर तो अङ्गोंमें रक्तसंचार स्थगित हो गया। उस समय उनके प्राण कहाँ थे? धमनियोंमें रक्तका प्रवाह न रहनेपर भी वे निष्पन्द—प्रस्तर-प्रतिमाकी भाँति ज्यों-की-त्यों खड़ी कैसे रहीं?—इनका समाधान तो सम्भव नहीं, पर मैयाकी स्थिति इस समय ठीक ऐसी ही है।

क्षणभर भी न लगा, व्रजपुरमें जितनी गोपसुन्दरियाँ थीं, सभी नन्दभवनमें आ पहुँचीं। उनकी तो बात क्या, वे निकट थीं; सुदूर गिरिराजके प्रान्तमें व्रजेश्वर थे, व्रजपुरका समस्त गोपसमुदाय था, वे सब-के-सब आ पहुँचे। उन सबको स्मृति है केवल एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रकी। वृक्षपातके उस महागर्जनको सुनकर सब इतने भयभीत हो गये हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकी अनिष्टाशङ्कासे उनका मन इतना अधिक भर गया है कि नन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वृत्तिके

लिये वहाँ स्थान नहीं है। इस अवस्थामें वे आ पहुँचे हैं—

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम्।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १)

श्रीकृष्णचन्द्रमें तन्मय हो जानेपर यहाँ भी, इस प्रपञ्चमें भी देश-कालका व्यवधान नहीं रहता। फिर यह तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी चिदानन्दमयी लीला, उनके नित्य चिदानन्दमय परिकर, उनकी चिन्मयी व्रजभूमिसे सम्बद्ध घटना है। यहाँ व्रजेश्वर, व्रजगोप यदि गिरिराजकी सीमा, विस्तृत वनप्रदेश, व्रजपुरकी उत्तुङ्ग अट्टालिकाएँ लाँघकर क्षणभरमें वहाँ नन्दप्राङ्गणमें आ पहुँचे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यहाँ तो लीलाके लिये ही चिन्मय देश-काल हैं। लीलामें आवश्यकतानुसार उनका विस्तार-संकोच होता है। इस समय दोनोंकी आवश्यकता है। अतः नन्दव्रज एवं गिरिराजका मध्यवर्ती विशाल भूखण्ड तो संकुचित हो गया। व्रजेश्वर, गोप ऐसे आ पहुँचे मानो द्वारपर ही थे; पर वह प्राङ्गण विस्तृत हो गया, इतने स्थानमें ही समस्त पुरवासी समा गये। अस्तु, आते ही सबकी दृष्टिमें भग्न यमलार्जुनवृक्ष तो आ गये; महागर्जन इन्हींका था, यह भी ध्यानमें आ गया। पर इतने प्रकाण्ड वृक्ष मूलसे उखड़कर गिर कैसे गये, इनके धराशायी होनेमें हेतु क्या है—इसे वे सर्वथा नहीं समझ पाये। सहसा ऐसी घटना घटित हो जानेका कोई कारण वे न ढूँढ़ सके। कारण न पाकर उनका चित्त भ्रान्त होने लगा—

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २)

अबतक उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन नहीं हुए हैं। अर्जुनतरुकी शाखाश्रेणी, पल्लवजालमें वे छिपे हैं। अवश्य ही गोपशिशुओंकी प्रसन्न, कौतुकपूर्ण मुद्रा देखकर उन्हें यह आश्वासन तो मिल जाता है कि नन्दनन्दन सकुशल हैं। अर्जुनतरुको घेरकर वे आश्चर्यकी मुद्रामें खड़े हो जाते हैं। इतनेमें व्रजेश्वरको एक गोपशिशु अङ्गुलिसे वृक्षमूलकी ओर देखनेका संकेत करता है। व्रजेश किंचित् उस ओर आगे बढ़कर देखते हैं और देखकर दंग रह जाते हैं। उन्हें कल्पना नहीं थी कि अपने पुत्रकी ऐसी अद्भुत अनुपम झाँकी देखनेको मिलेगी। कटिप्रदेशमें पट्टडोरी बँधी है, डोरी ऊखलसे संनद्ध है तथा अपने जानु एवं करतलको पृथ्वीपर टेके वे ऊखलको खींच रहे हैं तथा नेत्रोंमें भय भरा है—यह दृश्य व्रजेश्वरके समक्ष आते ही न जाने कैसे सभी गोप-गोपसुन्दरियाँ भी एक साथ यह देख लेती हैं। वास्तवमें तरुके मूलोत्पाटनका हेतु उनके सामने आ जाता है, फिर भी वे समझ नहीं पाते। किस महाबलवान्का यह कार्य है, किस हेतुसे उसने इन्हें उखाड़ फेंका—इसका कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे हैं। क्षण-क्षणमें उनका आश्चर्य बढ़ता जा रहा है। अधिकांशका मन किसी महाबली दैत्यके उत्पातकी कल्पना कर व्याकुल होने लगता है—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३)

जो कुछ अधिक धैर्यशाली हैं, वे दैत्यकृत किस मायाका अनुसंधान करने चलते हैं। पर वैसा कोई भी चिह्न उन्हें नहीं प्राप्त होता। दैत्य नहीं आया—यह धारणा तो पुष्ट होती है; किंतु—

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना।
विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'झंझावात नहीं आया, वर्षा नहीं आयी, आकस्मिक वज्रपात भी नहीं हुआ, यहाँ कोई मत्त गजेन्द्र भी नहीं आया, जिसकी स्वच्छन्द चेष्टासे यह अनुचित घटना घटी हो; फिर इन युग्म अर्जुन-वृक्षोंको गिराया तो किसने?'

यह रहस्य वे न पा सके। उनकी विस्मयभरी आँखें गोपशिशुओंकी ओर केन्द्रित हो गयीं।

किंतु व्रजेश्वरका ध्यान अब इस ओर नहीं है।

क्रीड़ा-निमग्न बलराम-श्रीकृष्णको माताका यमुना-तटसे बुलाकर लाना और स्नानादिके अनन्तर उनका नन्दरायजीकी गोदमें बैठकर भोजन करना; आँखमिचौनी-लीला

व्रजरानीकी सरस शिक्षा, अपने नीलमणिको स्तन्य-पानसे विरत करनेका प्रेमिल प्रयास श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर स्मितका संचार कर देता है। वे और भी उल्लासमें भरकर जननीके वक्षःस्थलका अञ्चल खींचते हुए उसमें अपना मुखचन्द्र छिपा लेते हैं। मैया उन्हें रोकनेकी-सी बाह्य चेष्टा करती हुई कहती हैं—

जसुमति कान्हहि यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति॥
ब्रज-लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति।
जौ हँ बिगरि दाँत ये आछे, तातैं कहि समुझावति॥
अजहूँ छाड़ि, कछौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
सूर स्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहि सुकावत॥

इतनेमें सुबल, श्रीदाम, उज्ज्वल, वसन्त, कोकिल आदि सखा प्राङ्गणमें प्रवेश करते हैं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र जननीके अङ्कमें रह सकें, यह सम्भव कहाँ। वे तत्क्षण गोदसे उतरकर भाग छूटते हैं। श्यामल श्रीअङ्गोंका त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य प्राङ्गणको उद्भासित करने लगता है। उस आलोकमें जननीके नेत्र तो निस्पन्द हो ही गये, अन्तरिक्षमें अवस्थित अमरवृन्द भी विथकित रह जाते हैं—

अजिर पद-प्रतिबिंब राजत, चलत उपमा-पुंज।
प्रति चरन मनु हेम बसुधा देति आसन कंज॥
सूर प्रभुकी निरखि सोभा रहे सुर अवलोकि।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित बिलोकि॥

दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तपनतनयाके तीरपर जा पहुँचते हैं और वहाँ विविध विचित्र क्रीडाओंमें संलग्न हो जाते हैं। आज इन्हें अग्रज बलरामका सहयोग प्राप्त है, अन्यथा गत कई दिनोंसे दोनों भाई परस्पर खेलते-खेलते प्रतिदिन ही लड़ लेते थे। एक दिन तो श्रीकृष्णचन्द्र अग्रजसे इतना रूठ गये कि खेल छोड़कर व्रजेश्वरीके पास जा पहुँचे और दाऊ भैयाकी सारी करतूत उन्होंने मैयाको सुना दी—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ?
कहा करौं, इहि रिस के मारें खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल-गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत॥

जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत॥

जननीने जब गोधनकी शपथ लेकर सान्त्वना दी, तब कहीं जाकर श्रीकृष्णचन्द्र शान्त हुए, खेलमें पुनः जानेके लिये प्रस्तुत हुए—

कल भी दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रको डरा दिया। वे भयसे थर-थर काँपते हुए घर भागे, सीधे रोहिणी मैयाके पास गये एवं दाऊ भैयाकी इस कठोर चेष्टाकी खूब निन्दा की—

देख री, रोहिणी मैया! कैसे हैं बलदाऊ भैया,
जमुना के तीर मोहि झुलुवा बतायौ।
सुबल-श्रीदामा साथ, हँस-हँस बूझत बात,
आप डरपे और मोहि डरपायौ।
जहँ-जहँ बोलैं मोर, चितै रहत ताही ओर,
भाजौ रे भाजौ रे भैया, वह देखौ आयौ।
आप गए तरु चढ़, मोहि छाड़्यौ बाहि तर,
धर-धर छाती करै, दौरयौ घर आयौ।

अभी अवसर दूसरा है, व्रजेश्वर अपने-आपको संवरण कर लेते हैं। वेदना छिपाकर हँसने लग जाते हैं तथा अविलम्ब बायें हाथके सहारे श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलसे सटाकर दाहिने हाथके द्वारा बन्धन खोल देते हैं—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ६)

श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह रहा है। बन्धनमोचनके अनन्तर नहीं, तभीसे जब कि व्रजेश्वर बन्धन खोलनेके उद्देश्यसे उनकी ओर चले थे। व्रजेश्वर उन्हें गोदमें उठाकर उनके अश्रुसिक्त मुखपर घन-घन चुम्बन अङ्कित करने लगते हैं। साथ ही उनका दुःखभार कम करनेके उद्देश्यसे सब कुछ जाननेपर भी अनजान बनकर सान्त्वनाके स्वरमें उनसे पूछते हैं—

पुत्र कुत्रत्यः स खलु खलबुद्धिर्येन
चोलूखले निर्बन्धजनितबन्धस्त्वमसीति।

'बेटा! वह दुष्टबुद्धि प्राणी कहाँ रहता है, जिसने इतने आग्रहसे तुम्हें बाँधा?'

पिताके इस लाड़को पाकर श्रीकृष्णचन्द्र खिल उठते हैं। धीरेसे उनके कानमें कह देते हैं—'बाबा! यह तो मैयाका ही काम है (तात! मातैवेति)।' किंतु बाबा युक्तिसे इस प्रसङ्गको बदल देते हैं। व्रजेश्वरको यह अनुमान है कि व्रजरानीके हृदयमें कितनी वेदना होगी। जिस क्षण व्रजेश्वरीकी प्राणशून्य-सी हुई दृष्टिके सामने महाराज नन्दने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने क्रोडमें धारण किया, उसी समय यशोदारानीमें अपने-आप चेतनाका संचार तो हो गया था; किंतु तुरंत दुःख एवं लज्जाके भारसे वे इतनी अधिक दब गयी थीं कि निकट जाकर पुत्रका मुख देखना तो दूर, सिर उठाकर उस ओर ताकनेकी क्षमता भी उनमें नहीं रही। विक्षिप्त-सी वे जहाँ थीं, वहीं बैठ गयीं। व्रजेश्वरने एक बार दृष्टि घुमाकर यशोदारानीकी ओर देख लिया था, वे सब कुछ समझ गये थे। उनके समीप जाना, पुत्रको सान्त्वना देनेके लिये, अपना दुःखभार हलका करनेके लिये उनकी भर्त्सना करना—यह तो व्रजेश्वरीके वात्सल्यपूरित चित्तको छन-छनकर बींध देना है। व्रजेश्वर-जैसे परम गम्भीर, नारायणचरणकिंकरके स्वभावको क्षोभ-प्रदर्शनका यह कठोर रूप छू ले, यह तो असम्भव है। इसीलिये उन्होंने इस प्रसङ्गको टाल दिया।

अपने पुत्रको गोदमें लिये व्रजेश श्रीयमुनातटपर जा पहुँचे। स्वयं स्नान कर श्रीकृष्णचन्द्रको स्नान कराया, ब्राह्मणोंके द्वारा स्वस्तिवाचन आदि करवाये। फिर उन्हें अमित स्वर्णभार अर्पितकर अगणित गोदान करवाये। अन्तमें पुत्रको सब विप्र एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे नहलाकर घर लौटे। घर आकर पूर्वाह्णभोजनकी व्यवस्थामें लगे।

आज परिवेषणसम्बन्धी समस्त कार्य रोहिणीजीने किये। व्रजेश्वरी तो एक कक्षमें अकेली बैठी आँसू ढाल रही हैं। संध्या होनेको आयी। व्रजेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामको साथ लिये गोष्ठमें चले गये। अबतक व्रजरानीने अन्नका कण क्या, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं की है। गोष्ठसे लौटनेपर यह सूचना व्रजेश्वरको मिलती है। वे श्रीकृष्णचन्द्रसे पूछते हैं—

तात! स्वमातरं यास्यसि?

'मेरे लाल! क्या जननीके निकट जाओगे?'

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र रूठे स्वरमें बोले—

नहि नहि; किंतु त्वामेव समया समयान् गमयिष्यामि।

'नहीं; अब तो, बाबा! मैं तुम्हारे साथ ही रहकर समय बिताऊँगा।'

कुछ वृद्धा गोपियाँ हँसकर बोलीं—

स्तनं कस्य पास्यसि?

'किसके स्तनका दूध पीओगे?'

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार दोनों कपोलोंको फुलाकर कहा—

सितासम्भविष्णु धारोष्णं पयः पास्यामि।

'मिश्री मिला हुआ धारोष्ण गोदुग्ध पीऊँगा।'

गोपियाँ चिढ़ाती-सी बोलीं—

केन क्रीडिष्यसि?

'खेलोगे किसके साथ?'

श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजेशकी ग्रीवामें अपनी नन्ही भुजाएँ डाल दीं और बोले—

तातेनैव समं तथा भ्रातरमपि गमयिष्यामि।

'बाबाके साथ ही। और—और दाऊ भैयाको भी साथ ले लूँगा।'

व्रजेशके होठोंपर मुसकान छा गयी। वे धीरेसे बोले—

भ्रातुर्मातरं कथं नानुगच्छसि?

मेरे लाल! दाऊ भैयाकी जननी रोहिणीजीके पास जानेमें क्या हानि है?

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें रोष भर आता है। अस्वीकारकी मुद्रामें अपने मस्तकको संचालित करते हुए वे कह उठते हैं—

मां विहायेयमपीयायेति।

'ऊँ हूँ। यह भी मुझे छोड़कर चली गयी थी!'

श्रीकृष्णचन्द्रकी उक्ति सुनकर रोहिणी मैयाके नेत्रोंमें जल भर आता है। अञ्चलसे अश्रुमार्जन करती हुई वे धीरेसे बोलीं—'मेरे लाल! इतना कठोर तू क्यों हो गया? देख! तेरी माताको कितना दुःख हो रहा है।' किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने तो मानो इसे सुना ही नहीं, इस प्रकारकी मुद्रामें वे बाबाका मुख देखने लग जाते हैं। इस समय व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगे हैं—

पुत्र! कथं कठोरायसे? माता तव दुःखायते। कृष्णस्तदेतदशृण्वन्निव सास्रं पितुमुखमीक्षते स्म॥

यशोदारानीकी चर्चा करते हुए कुछ क्षण व्रजेश्वरने और लाड़ लड़ाया। श्रीकृष्णचन्द्र उतने क्षणोंमें ही अपने बन्धन-दुःखको, जननीकृत अपमानको भूलने लगे। इतना ही नहीं, उनके नेत्र सजल हो गये। दूसरे ही क्षण मैयाकी अनुपस्थिति असह्य हो गयी। न जाने कितनी बातें एक साथ उनके मनमें आ जाती हैं। श्रीरोहिणी समीप ही खड़ी हैं, श्रीकृष्णचन्द्र शङ्कित होकर उनकी गोदमें चढ़ जाते हैं, 'री छोटी मैया! मेरी मैया कहाँ है? उसके पास ले चलो।' यही बार-बार व्याकुल कण्ठसे पुकारने लगते हैं—

कुत्र मे माता तत्र गम्यतामिति सशङ्कं रोहिण्यङ्कं गतवान्।

श्रीरोहिणी तुरंत यशोदारानीके पास चली आती हैं। नीलमणि अपनी जननीके पास आ गये। पर जननीने तब जाना जब नीलमणिने उनकी ग्रीवाको अपनी भुजाओंमें वेष्टित कर लिया, उनके कण्ठहार बन गये।

जननीका चिबुक श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकका स्पर्श कर रहा है। जननीके अश्रुपूरित कण्ठसे अपने वत्सको लालन करती हुई गौके 'घों-घों' रव-जैसी ध्वनि हो रही है। नेत्रोंसे जलकी झड़ी लग रही है, उनका विगलित हृदय ही अश्रु बनकर बाहरकी ओर बह चला है। आह! व्रजेश्वरीका यह प्रेमिल भाव सबको रुला देता है; जितनी गोपसुन्दरियाँ खड़ी हैं, सबके नेत्र बरसने लगते हैं—

वत्समूर्ध्नि चिबुकं दधती सा धेनुवद्गलितघर्घरशब्दा।
रोदनप्रथनया द्रवदात्मारोदयत् परिकरानपि सर्वान्॥

आकाशमें नक्षत्रपंक्ति आ विराजी है। नीलमणिकी व्यारूका समय हो चुका है। मैया थाल सजाने उठ पड़ती हैं। क्षणोंमें वे स्वर्णथालको विविध पक्वान्नसे पूर्णकर अपने नीलमणिके सामने रख देती हैं, नीलमणि भोजन आरम्भ करते हैं—

आरोगत हैं श्रीगोपाल।
षटरस सौंज बनाइ जसोदा, रुचि कै कंचन-थाल॥
करति बयारि, निहारति हरि-मुख, चंचल नैन बिसाल।
जो भावै, सो माँगि लेहु तुम, माधुरि मधुर रसाल॥
जे दरसन सनकादिक दुर्लभ, ते देखतिं ब्रज-बाल।
सूरदास प्रभु कहति जसोदा, चिरजीवौ नँद-लाल॥

क्रीड़ा-निमग्न बलराम-श्रीकृष्णको माताका यमुना-तटसे बुलाकर लाना और स्नानादिके अनन्तर उनका नन्दरायजीकी गोदमें बैठकर भोजन करना; आँखमिचौनी-लीला

व्रजरानीकी सरस शिक्षा, अपने नीलमणिको स्तन्य-पानसे विरत करनेका प्रेमिल प्रयास श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर स्मितका संचार कर देता है। वे और भी उल्लासमें भरकर जननीके वक्षःस्थलका अञ्चल खींचते हुए उसमें अपना मुखचन्द्र छिपा लेते हैं। मैया उन्हें रोकनेकी-सी बाह्य चेष्टा करती हुई कहती हैं—

जसुमति कान्हहि यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति॥
ब्रज-लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति।
जौंहैं बिगरि दाँत ये आछे, तातैं कहि समुझावति॥
अजहूँ छाड़ि, कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
सूर स्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहि लुकावत॥

इतनेमें सुबल, श्रीदाम, उज्ज्वल, वसन्त, कोकिल आदि सखा प्राङ्गणमें प्रवेश करते हैं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र जननीके अङ्कमें रह सकें, यह सम्भव कहाँ। वे तत्क्षण गोदसे उतरकर भाग छूटते हैं। श्यामल श्रीअङ्गोंका त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य प्राङ्गणको उद्भासित करने लगता है। उस आलोकमें जननीके नेत्र तो निस्पन्द हो ही गये, अन्तरिक्षमें अवस्थित अमरवृन्द भी विथकित रह जाते हैं—

अजिर पद-प्रतिबिंब राजत, चलत उपमा-पुंज।
प्रति चरन मनु हेम बसुधा देति आसन कंज॥
सूर प्रभुकी निरखि सोभा रहे सुर अवलोकि।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित बिलोकि॥

दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तपनतनयाके तीरपर जा पहुँचते हैं और वहाँ विविध विचित्र क्रीडाओंमें संलग्न हो जाते हैं। आज इन्हें अग्रज बलरामका सहयोग प्राप्त है, अन्यथा गत कई दिनोंसे दोनों भाई परस्पर खेलते-खेलते प्रतिदिन ही लड़ लेते थे। एक दिन तो श्रीकृष्णचन्द्र अग्रजसे इतना रूठ गये कि खेल छोड़कर व्रजेश्वरीके पास जा पहुँचे और दाऊ भैयाकी सारी करतूत उन्होंने मैयाको सुना दी—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ?
कहा करौं, इहि रिस के मारें खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल-गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत॥

जननीने जब गोधनकी शपथ लेकर सान्त्वना दी, तब कहीं जाकर श्रीकृष्णचन्द्र शान्त हुए, खेलमें पुनः जानेके लिये प्रस्तुत हुए—

कल भी दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रको डरा दिया। वे भयसे थर-थर काँपते हुए घर भागे, सीधे रोहिणी मैयाके पास गये एवं दाऊ भैयाकी इस कठोर चेष्टाकी खूब निन्दा की—

देख री, रोहिणी मैया! कैसे हैं बलदाऊ भैया,
जमुना के तीर मोहि झुलुवा बतायौ।
सुबल-श्रीदामा साथ, हँस-हँस बूझत बात,
आप डरपे और मोहि डरपायौ॥
जहँ-जहँ बोलैं मोर, चितै रहत ताही ओर,
भाजौ रे भाजौ रे भैया, वह देखौ आयौ।
आप गए तरु चढ़, मोहि छाड़्यौ वाहि तर,
धर-धर छाती करै, दौरयौ घर आयौ॥

सब बातें सुनकर रोहिणी मैयाने नीलमणिको कण्ठसे लगा लिया। फिर ब्राह्मणको बुलाकर विधिपूर्वक नीलमणिके ही हाथोंसे गोदान करवाया। तब नीलमणिको शान्ति मिली—

उछंग सौं लिये लगाय, कंठ सौं रहे लपटाय,
वारी रे वारी, मेरी हियौ भरि आयौ।
परमानंद रानी द्विज बुलाय, बेद-मंत्र पढ़ाय,
बछिया कौं पूँछ गहि हाथहि दिवायौ॥

किंतु आज दोनों भाइयोंमें कोई झगड़ा नहीं। अतिशय प्रेमपूर्वक परस्पर एक-दूसरेका पक्ष समर्थन करते हुए दोनों क्रीडामें तन्मय हो रहे हैं। भुवनभास्कर क्रमशः ऊपर उठते हुए आकाशके मध्यमें आ गये, पर राम-श्यामकी क्रीडाका विराम नहीं हुआ। आज बलराम एक-से-एक बढ़कर सुन्दर खेलकी योजना रखते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य गोपशिशु उसीके अनुसार खेलने लगते हैं। घर लौटनेका समय तो कबका समाप्त हो चुका है। पर यह स्मरण किसे है? आज तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ही प्रत्येक बार विजय होती है। इस विजयोल्लासमें वे अन्य सब कुछ भूल गये हैं। इसी समय व्रजेश्वरीसे प्रेरित होकर रोहिणी मैया वहाँ आ पहुँचती हैं। बड़ी देरतक प्रतीक्षाके अनन्तर भी जब राम-श्याम घर नहीं पहुँचे, तब मैयाने अतिकाल होते देखकर श्रीरोहिणीको बुलाने भेजा है। अर्जुन वृक्षकी घटनाके अनन्तर मैयाको यह शङ्का लगी ही रहती है कि क्या पता कहीं फिर कोई वृक्ष न टूट पड़े। तनिक भी देर होते ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं। आज ब्राह्मण-भोजनकी व्यवस्थामें लगी थीं। भूदेवोंकी सेवा छोड़कर आना सम्भव नहीं था, इसलिये श्रीरोहिणीको भेजा है। वे आकर देखती हैं—सभी गोपशिशु क्रीडामें उन्मत्त हैं, राम-श्याम उनके साथ दौड़ रहे हैं। बलराम-जननीके लिये यह सम्भव नहीं कि वे पुत्रोंके समीप जा सकें; क्योंकि उनके पहुँचते-न-पहुँचते सभी शिशु उनसे विपरीत दिशामें दौड़ पड़ते हैं। अतः रोहिणी मैया श्रीकृष्ण एवं बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगती है—

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १२)

किंतु उत्तर कौन दे? श्रीरोहिणीकी पुकार भी उनतक पहुँचे तब तो, उस आनन्दकोलाहलसे तीर मुखरित है, समस्त उपवन निनादित हो रहा है। अब मैयाके मृदु कण्ठसे निकली ध्वनिमें—पुकारमें इतनी शक्ति कहाँ जो उसे भेदकर राम-श्यामका ध्यान आकर्षित कर सके। वे पुकारती-पुकारती थक गयीं, पर एक बारके लिये भी कोई उत्तर नहीं मिला। न मैया उनके पासतक पहुँच सकीं न वे उनके पास आये। खेलके आवेशमें भूले हुए दोनोंने रोहिणी मैयाकी ओर देखातक नहीं। निरुपाय होकर बलरामजननी लौट गयीं। घर आकर व्रजेश्वरीको ही बुलाने भेजा—

नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १३)

व्रजेश्वरीने आकर देखा मानो एक नीलोत्पल अपने ही परागसे सन गया हो, इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्ग धूलिसे भरे हैं। मनोहर बाल्यभङ्गिमाका प्रकाश करते हुए वे बलराम एवं गोपशिशुओंके साथ खेल रहे हैं। मैयाका वात्सल्य उमड़ पड़ता है। स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती है, अञ्चल भीग जाता है। गद्गद कण्ठसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको बारंबार पुकारने लगती हैं—

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १४)

श्रीकृष्णचन्द्रके पास उनकी पुकार पहुँच रही है या नहीं, इसकी चिन्ता किये बिना ही वे कहती जा रही हैं—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १५)

'मेरे लाल! अरे कृष्ण! कमलनयन! बेटा! सुन

तो सही, अरे शीघ्र आ जा! देख! मैं तुझे स्तन पिलाने आयी हूँ, तू स्तन्यपान तो कर ले। बहुत खेल चुका, अब खेल रहने दे। अरे तुझे भूख जो लग रही है। देख! खेलते-खेलते तू कितना थक गया है। अब आ जा!'

किंतु श्रीरोहिणीकी भाँति व्रजेश्वरीको भी इस आह्वानका कोई उत्तर नहीं मिलता। कुछ क्षण वे शान्त खड़ी रहती हैं, फिर बलराम एवं गोपशिशुओंको पुकारती हैं—

हे रामागच्छ तातार्भु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्हो भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १६-१७)

'अरे! राम! कुलदीपक! तू आ जा, बेटा! और साथमें नीलमणिको भी ले चल। अरे देख, प्रातःकाल तूने कलेऊ किया था, तबसे कुछ नहीं खाया; क्या तुझे भूख नहीं लगी? अवश्य लगी है, अब तो शीघ्र-से-शीघ्र भोजन करना चाहिये! यदुकुलभूषण! तू बात मान ले बेटा! देख, व्रजेश्वर भोजनपर बैठे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आ जा, हमलोगोंको भी तो सुख-दान कर। और गोपबालको! सुनते हो, तुम सब भी अपने-अपने घर चले जाओ।'

इससे पूर्व न जाने कितनी बार व्रजेश्वरी राम-श्यामकी क्रीडा स्थगित कर अपने साथ भोजनके लिये घर ले गयी हैं तथा उन-उन अवसरोंपर श्रीकृष्णचन्द्र न सुनें, राम भी अनसुनी कर दें, पर गोपशिशु व्रजेश्वरीकी बात सुन लेते थे। वे खेलना छोड़ देते थे। फिर राम-श्याम किसके साथ खेलें? किंतु आज तो वे सब भी क्रीडामत्त हो रहे हैं। व्रजेश्वरी आयी हैं, यह भी उन्हें भान नहीं। अतः हारकर मैया पुनः श्रीकृष्णचन्द्रका ही आह्वान करने लगती हैं—

नंद बुलावत हैं गोपाल।
आवहु बेगि बलैया लेउँ हौं, सुंदर नैन बिसाल॥
परस्यौ थार धर्‌यौ मग जोवत, बोलति बचन रसाल।
भात सिरात, तात दुख पावत, बेगि चलौ, मेरे लाल॥

श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान आकर्षित करनेके लिये आज यशोदारानीने न जाने कितनी युक्तियोंका आश्रय लिया—

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलङ्कृतान्।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १८-१९)

'अरे श्रीकृष्ण! छिः छिः! देख, तेरे समस्त अङ्ग धूलिधूसरित हो रहे हैं। नहीं नहीं! अब मेरे साथ चल, शीघ्र स्नान कर ले और आज तो तेरा जन्म-नक्षत्र है, स्नान आदि करके पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान कर। अरे! इधर देख, अभी-अभी यहाँ आये हुए इन गोपशिशुओंकी ओर तो देख। इनकी माताओंने इन्हें स्नान कराया है, भूषणोंसे यथावत् अलङ्कृत किया है। ये कितने सुन्दर लगते हैं! तू भी स्नान कर ले तथा फिर भूषणोंसे भलीभाँति विभूषित होकर भोजन कर ले। इसके अनन्तर यथेच्छ खेल खेलना।'

इस प्रकार नीलमणिकी जननी बहुत कुछ कह गयीं; किंतु कोई परिणाम न निकला। श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीडा ज्यों-की-त्यों चलती रहती है। अब अन्तिम उपाय जो सम्भव है, जननी वही करने चलीं, वे अपने नीलमणिके पीछे-पीछे दौड़ने लगती हैं। संयोगसे सुबल दौड़ता हुआ उसी ओर मुड़ता है, जिधरसे जननी आ रही हैं। जननी हाथ बढ़ाकर सुबलको ही पकड़ लेती हैं। उसे पकड़ते ही श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आ पहुँचते हैं तथा सुबलकी पीठपर हँस-हँसकर मुक्की लगाने लगते हैं; नीलमणिको इतना समीप देखकर मैया सुबलको छोड़कर उनकी भुजा पकड़ लेती हैं। अब बलराम अपने-आप ही आकर जननीके कटिदेशसे लिपट जाते हैं। दोनोंके मुखारविन्दपर प्रस्वेदकण झल-झल कर रहे हैं, जननी अपने आँचलसे क्रमशः दोनोंका मुख पोंछने लगती हैं।

सघन तमालकी छायामें कुछ क्षण विश्रामकर व्रजेश्वरी राम-श्यामका हाथ पकड़े भवनकी ओर चल पड़ती हैं। कुछ दूर चलनेके अनन्तर श्रीकृष्ण एवं बलराम जननीके हाथोंसे अपनेको मुक्त कर लेते हैं। मैया बाधा भी नहीं देतीं, अपितु नीलमणिको अत्यन्त मन्द गतिसे चलते देखकर 'जो पहले पहुँचे, वह राजा!' यों कहकर उत्साहित करने लगती हैं—

हौं बारी, नान्हे पाइनि की दौरि दिखावहु चाल।
छाडि देहु तुम लाल! अटपटी यह गति मंद मराल॥
सो राजा जो अगमन पहुँचै, सूर सु भवन उताल।
जौ जैहैं बलदेव पहिलैंही, तौ हँसिहैं सब ग्वाल॥

इस भाँति सर्वलोकपूज्य परम महेश्वर स्वयं भगवान् आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्रको लाड़ लड़ाती हुई व्रजरानी चली जा रही हैं। अपने नीलमणिके अनन्त ऐश्वर्यकी ओर मैयाका ध्यान स्वप्नमें भी नहीं जाता। मैया सदा यही अनुभव करती हैं कि नीलमणि उनके गर्भ-जात पुत्र हैं। विशुद्ध वात्सल्यकी धारा उनके चित्तको निरन्तर सिक्त किये रहती है। इसीका यह परिणाम है—अगणित योगीन्द्र मुनीन्द्र ध्यानमें क्षणभरके लिये भी जिनका स्पर्श पानेके लिये सदा लालायित रहते हैं, उन आनन्दकंद व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रको वे हाथ पकड़कर लिये जा रही हैं, इच्छानुसार उन्हें मुक्त कर देती हैं और फिर, 'कहीं चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्र खेलनेके लिये उपवनकी ओर ही भाग न जायँ, भवन न जायँ' इस भयसे पुनः पकड़ लेती हैं। जो हो, भवन निकट ही है और वे राम-श्यामको लिये आ पहुँचती हैं, आकर उनके स्नान-भोजन आदिकी व्यवस्थामें लगती हैं—

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहरामपच्युतं नीत्वा स्वसादं कृतवत्यथोदयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २०)

तेल, उबटन, स्नान, अङ्गमार्जन, परिधान, अलङ्कारसे सुसज्जितकर व्रजेश्वरी राम-श्यामको व्रजेन्द्रके समीप भोजनालयमें ले जाती हैं। पुत्रोंको आया देखकर उनके स्मितसमन्वित मुखारविन्दके दर्शनमात्रसे अतिशय प्रमुदितचित्त हुए व्रजराज उन्हें अपनी गोदमें बैठा लेते हैं—

उपसन्नयोश्च तयोः प्रमुदितमना मनाक् स्मित-पूर्वमवेक्ष्य वदनं निजमङ्कमारोपयामास व्रजराजः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र भोजन करते हैं—

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छबि निरखति नँदरनियाँ॥
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि, ब्यंजन बिबिध, अगनियाँ।
डारत, खात, लेत अपनें कर, रुचि मानत दधि-दोनियाँ॥
मिस्री, दधि, माखन मिस्रित करि, मुख नावत छबि धनियाँ।
आपुन खात, नंद-मुख नावत, सो छबि कहत न बनियाँ॥
जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अचवन लीन्हौ, माँगत सूर जुठनियाँ॥

यमलार्जुन-पतनके दिनसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिदिनकी दिनचर्या प्रायः यही है। व्रजेश्वरीकी ओरसे श्रीकृष्णचन्द्रको अनुशासनका अब कोई भय नहीं रहा; क्योंकि मैयाने अपने शासनका इतना अनिष्ट परिणाम (वृक्षपतनकी दुर्घटना) देखकर यह निश्चय कर लिया है—'नीलमणिको किसी भी निमित्तसे मैं अब नहीं डाँटूँगी, यथासम्भव उसे उन्मुक्त क्रीडा करने दूँगी।' अतः श्रीकृष्णचन्द्र कलेऊ समाप्त होते ही प्रतिदिन यमुनातीरके उपवनमें खेलने चले जाते हैं। परंतु विलम्ब होते ही स्नेहपरवशा जननी ढूँढ़ने भी जाती ही हैं; तथा किसी दिन ढूँढ़नेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रको जब नहीं पातीं तो प्रेमातिरेकवश विक्षिप्त-सी होकर उच्च स्वरसे प्रलाप-सा करने लगती हैं। अवश्य ही जननीका यह प्रेमोन्माद आरम्भ होते ही श्रीकृष्णचन्द्रके कानोंमें भी जननीकी पुकार चली ही जाती है और वे दौड़ते हुए आकर जननीके कण्ठसे लग जाते हैं—

कोउ, माई! बोलि लेहु गोपालहि।
मैं अपने कौ पंथ निहारति, खेलत बेर भई नँदलालहि॥
टेरत बड़ी बार भइ मोकौं, नाहिं पावति घनस्याम तमालहि।
सिंध जेंवत सिराति, नँद बैठे, ल्यावहु बोलि कान्ह ततकालहि॥

भोजन करै नंद सँग मिलि कै, भूख लगी है मेरे बलहि।
सूर स्याम-मग जोवति जननी, आइ गए सुनि बचन रसालहि॥

मध्याह्नके समय भी प्रतिदिन ही न्यूनाधिक अन्तरसे व्रजेश्वर एवं राम-श्यामके भोजनकी यह अभिनव झाँकी निहार-निहारकर पुरसुन्दरियाँ अपने नेत्र शीतल करती हैं—

धूसर धूरि अंग लपटाने, आनि नंद कहि दीन्हे।
झार धूरि सम्हारत अलकैं, बदन चूमि तहँ लीन्हे॥
उठि-उठि चलत न बैठत लालन, पितु घोंछैं-पुचकारैं।
षट-रस निरस लगत तिन कौं, सब खेल हिये में धारैं॥
सिसु खेलन कौ सोर सुनत प्रभु नजरि बरकि उठि धावैं।
टेरे नंद प्रीति के बाँधे लगे द्वार लौं आवैं॥
मिलत जाहिं बालक बृंदनि में जुगल बंधु अति प्यारे।
नर-नारिन के लगे रहत मन, छिनभर होत न न्यारे॥
जो परब्रह्म अलख, अबिनासी, घट-घट ब्यापक जो है।
निज माया करि सबहिं रमावतु, ताहि रमावतु को है॥

किंतु आज मध्याह्न-भोजनके अनन्तर भी व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको भवनमें ही रोक रखनेमें सफल हो जाती हैं। मैयाने आँखमिचौनी खेलनेका प्रस्ताव जो कर दिया। इतना ही नहीं, समस्त गृहकार्यको छोड़कर वे स्वयं नीलमणिके नेत्र मूँदनेके लिये प्रस्तुत हुई हैं—

बोलि लेहु हलधर भैया कौं।
मेरे आगें खेल करौं कछु, सुख दीजै मैया कौं॥
मैं मूँदौं हरि आँखि तुम्हारी, बालक रहैं लुकाई।
हरषि स्याम सब सखा बुलाए, खेलन आँखि मुँदाई॥
हलधर कह्यौ—आँखि को मूँदै; हरि कह्यौ—मातु जसोदा।
सूर स्याम लए जननि खिलावति, हरष सहित मन मोदा॥

आजकी आँखमिचौनीमें प्रथम विजय श्रीकृष्णचन्द्रको ही प्राप्त होती है—

हरि तब अपनी आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ-तहँ गए भगाई॥
कान लागि कह्यौ जननि जसोदा, वा घर में बलराम।
बलदाऊ कौं आवन दैहौं, श्रीदामा सौं काम॥
दौरि-दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि कौ गात।
सब आए, रहे सुबल-श्रीदामा, हारे अब कें तात॥
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ।
दै-दै सौंहैं नंद-बबा की, जननी पै लै आइ॥
हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा ओर।
सूरदास हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥

व्रजेश्वरीको आज नीलमणिने, रामने, अन्य गोप-शिशुओंने ऐसे-ऐसे नये-नये खेल दिखलाये कि मैया आनन्दमुग्ध हो गयीं। आदिसे अन्ततक निर्णयकर्त्री मैया ही बनी और इसीलिये सबमें विजयश्री नीलमणिको ही मिली। नीलमणि परमानन्दमें निमग्न होकर मैयाके कण्ठमें झूलने लगते हैं। अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये, तब कहीं इस आनन्दक्रीडाका अवसान हुआ। अब मैया नीलमणिको, रामको एवं अन्य समस्त गोपशिशुओंको ब्यारू कराती हैं। तदनन्तर गोप-सुन्दरियाँ अपने-अपने पुत्रोंको घर ले जाती हैं और श्रीकृष्णचन्द्र आज वहीं प्राङ्गणमें ही निद्रित हो जाते हैं—

आँगन में हरि सोइ गए री।
दोउ जननी मिलि कै हरुऐं करि, सेज सहित तब भवन लए री॥
नैकु नहीं घर में बैठत हैं, खेलहिं के अब रंग रए री।
इहिं बिधि स्याम कबहुँ नहिं सोए, बहुत नींद के बसहिं भये री॥
कहति रोहिनी—सोवन देहु न, खेलत-दौरत हारि गए री।
सूरदास प्रभु कौ मुख निरखत हरषत जिय नित नेह नए री॥

उपनन्दजीके प्रस्तावपर, आये दिन व्रजमें होनेवाले उपद्रवोंके भयसे सम्पूर्ण व्रजवासियोंकी गोकुल छोड़कर यमुनाजीके उस पार वृन्दावन जानेकी तैयारी

स्वर्णथालमें दीप सजाये व्रजेश्वरी तुलसीकाननकी ओर जा रही हैं। उनके उत्तरीय (ओढ़नी)-को दक्षिण करपल्लवमें धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र पीछे-पीछे चल रहे हैं; किंतु वे देख रहे हैं अभी कुछ क्षण पहले वनसे लौटी हुइ गायोंकी ओर, हुमक-हुमककर दुग्धपान करनेवाले गोवत्सोंकी ओर। गायोंके पार्श्वदेशमें वयस्क आभीर गोरक्षक खड़े हैं, उनके हाथोंमें लगुड़ सुशोभित हैं। वे इस प्रतीक्षामें हैं कि गोवत्स जब दुग्धपानसे तृप्त हो लें, तब उन्हें यथास्थान पहुँचा दें। यही दृश्य आज श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें सहसा एक अभिनव भावका उन्मेष कर देता है। वे सोचने लगते हैं—कदाचित् मैं भी गोचारणके लिये वन जाता, फिर संध्या होती और उस समय वनसे लौटकर ऐसे ही गो-संरक्षण करता।

जो रसस्वरूप हैं, जिन रस-सागरकी एक बूँद रससे अगणित विश्व-प्रपञ्चमें रसका संचार होता रहता है, जिनकी रसकणिका पाकर विश्वके प्राणी आनन्दका अनुभव करते हैं—

रसो वै सः। रसः ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

—वे आनन्दकंद परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आये ही हैं व्रजपुरमें रसपान जो करने! व्रजदम्पतिके क्रोड़में, नन्दप्राङ्गणमें, व्रजपुरकी वीथियोंमें, गोपसुन्दरियोंके गृहोंमें, गोकुलके उपवनमें रसकी सरिता बहाकर वे बाल्यरसका आस्वादन तो कर चुके। अब पौगण्ड-रसपानकी वासना उनमें उदय हुई है। बस, यह इच्छामात्र ही अपेक्षित थी, अन्यथा उनकी अचिन्त्य लीला-महाशक्ति तो समस्त संघटन प्रस्तुतकर बहुत देरसे प्रतीक्षा कर रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी अनादि अनन्त लीला प्रपञ्चमें युग-युगोंसे प्रकट भी तो इसी क्रमसे होती है—बाल्यलीला गोकुलमें, पौगण्ड-कैशोर वृन्दारण्यमें। इसीका उपक्रम होने चला।

क्षण भी न लगा, बृहद्वनसे वृन्दावन जानेकी योजना लीलाशक्तिने व्रजेश्वरके राज्यमन्त्री, ज्येष्ठ भ्राता उपनन्दके अन्तस्तलमें स्फुरित कर दी। आज गोपेश्वरने राज्यमन्त्रणाके लिये व्रजपुरके सभी प्रमुख वृद्ध वयस्क गोपोंको निमन्त्रित किया है। उसीमें योगदान करने श्रीउपनन्द जा रहे हैं—उसी पथसे, जिसमें वह तुलसीकानन है और श्रीकृष्णचन्द्र अपनी जननीके पास खड़े प्रदीपपंक्तिकी शोभा निहार रहे हैं। दृष्टि पड़ते ही उपनन्दके मनोराज्यमें स्पन्द आरम्भ होता है और वे मन-ही-मन तुरंत एक नया प्रस्ताव स्थिर कर लेते हैं। आज ही नहीं, जिस दिन पूतना आयी थी, उसी दिन उन्होंने निश्चय कर लिया था कि अब बृहद्वनका परित्याग करना ही होगा। तबसे वे प्रायः प्रतिदिन ही सुदूर वनप्रान्तरमें भ्रमण करते। भ्रमणका एक ही उद्देश्य होता—सम्पूर्ण नन्दव्रज बृहद्वनसे उठकर कहीं अन्यत्र बस जाता, इसके उपयुक्त स्थान ढूँढ़ना। कल उनका अन्वेषण पूर्ण हो चुका था। वृन्दावनका, गिरिराजके विशाल भूभागका, उसके कोने-कोनेका पर्यवेक्षण करके वे इस निश्चयपर पहुँच गये थे कि सभी दृष्टियोंसे परम सुखमय स्थान वही है तथा अधिक दूर भी नहीं है। अवश्य ही अबसे चार प्रहर पूर्व उनका निश्चय यह था कि किसी अन्य अवसरपर कुछ विलम्ब करके ही वे इसकी सूचना

सबको देंगे, ग्रीष्म आनेतक वे इस योजनाको कार्यान्वित न करेंगे; किंतु पथमें वहाँ नन्दनन्दनको देखते ही सहसा उनके विचार बदल जाते हैं तथा आजकी सभाका मुख्य उद्देश्य उनके लिये तो, बस, वृन्दावनगमन ही हो जाता है। इस उद्देश्यको लिये ही वे सभामञ्चपर आ विराजते हैं। बृहद्वन परित्याग करनेकी प्रेरणा तो अभिनन्द, सन्नन्द आदि व्रजेशके सहोदर भ्राताओंको भी मिल चुकी थी। अवश्य ही वे लोग स्थानका निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि ऐसा सुखद स्थान कौन-सा हो, जहाँ व्रज बस सके। इसलिये वे सर्वथा मौन थे। पर आज वे लोग भी उसी पथसे आये। यशोदानन्दनको उन सबने भी देखा। उन सबके मनमें भी आज अपने विचार प्रकट कर देनेकी प्रबल प्रेरणा हुई। वे यह तो जान नहीं पाये कि यशोदाका वह मरकतश्याम शिशु ही उनके अन्तस्तलमें अन्तर्यामी बनकर अनादिकालसे उनका नियन्त्रण कर रहा है, यह प्रेरणा भी उसकी ही है। पर आज वे भी मन-ही-मन कटिबद्ध हो गये कि इस विचारको व्रजेशपर अविलम्ब प्रकट कर ही देना है। राज्यसभामें आते ही अपने मनोभाव उन्होंने उपनन्दको तो बता ही दिये। उनका पूरा समर्थन भी उन्हें तत्क्षण मिल गया तथा नित्य-नियम समाप्तकर श्रीकृष्ण-बलरामको अङ्कमें धारण किये व्रजराज ज्यों ही आकर अपने आसनपर विराजे कि उपनन्द आदि सभी भाइयोंने वह प्रस्ताव उनके एवं अन्य समस्त मान्य वयोवृद्ध गोपोंके सम्मुख रख दिया—

अथ कदाचिदपि तेनैवान्तर्यामिणा प्रेर्यमाणान्तःकरणैरुपनन्दसन्नन्दादिभिः स्थविराभीरमुख्यः सरभसमास्थानीमास्थानीतमानसतया समास्थाय व्रजराजं सादरमूचे।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीउपनन्दके प्रति सबके मनमें सम्मान है। आयुमें वे सबसे बड़े हैं। उनके अगाध ज्ञानकी समता व्रजमें कोई कर नहीं सकता। कहाँ, कब, कैसे, क्या करना है—इसके लिये निर्भ्रान्त सम्मति एकमात्र उनकी ही होती है। श्रीकृष्ण-बलरामका शुभचिन्तक उनसे बड़ा और कौन होगा? इसलिये ही अपने भाइयोंका संकेत पाकर सबसे पहले वे ही बोले—

तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २२)

वक्तव्य आरम्भ करनेसे पूर्व उपनन्दकी दृष्टि व्रजेशके अङ्कमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रसे जा लगती है। फिर तो वह नीलोत्पल छवि उपनन्दके अन्तस्तलमें प्रविष्ट हो जाती है। उनके नेत्र निमीलित हो जाते हैं, मानो प्राणोंने कपाट रुद्ध कर लिये—कहीं वह सौन्दर्य-निधि कोई उठा न ले जाय। अर्द्धसमाधिकी-सी दशामें बृहद्वनकी परिस्थितिपर, अपने इस पैतृक आवासके त्यागके हेतुओंपर तथा वृन्दावनकी विविध सुविधाओंपर उपनन्द विशद विवेचन कर जाते हैं। उनकी वक्तृताका सारांश यह है—'अब बृहद्वनमें रहना अत्यन्त भयावह है। शत्रुओंको हमारी गति-विधिका पूरा ज्ञान हो गया है। यहाँ हम जितने एकत्र हैं, सभीके लिये गोकुल अपना है, व्रजेश्वरके ये दोनों पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम हम सबके जीवनाधार हैं। यदि इनका जीवन सुरक्षित है तो हम सभी जीवित हैं। यदि ये दोनों शिशु नहीं रहे तो व्रजका एक भी प्राणी जीवित नहीं रहेगा। अतः हम जो भी गोकुलके हितैषी हैं, उन सबको, गोकुलका मङ्गल अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये ही यहाँसे अविलम्ब प्रस्थान कर देना चाहिये। अपना आवास कहीं अन्यत्र बनाना चाहिये। यहाँ एकके पश्चात् एक विपत्ति आती ही रहती है और जो भी आती है, वह आती है इन दो शिशुओंके अनिष्टका हेतु बनकर ही। हम सबकी अपनी संतति तो इनके साथ ही रहती है; इनके अनिष्टका अर्थ है हम गोपोंकी समस्त संततिका मूलोच्छेद। हम सब बड़ी गम्भीरतासे विचार करें—बालनाशिनी पूतना आयी, किसी प्रकार उस राक्षसीसे नन्दनन्दनकी रक्षा हुई। यह निश्चय श्रीहरिकी अपार अनुकम्पा ही थी कि

वह विशाल शकट इस शिशुपर न गिरकर अलग गिरा। फिर वह तृणावर्त दैत्य आया, सुकुमार नन्दनन्दनको पहले तो अत्यन्त ऊपरके आकाशमें उड़ा ले गया। अनन्तर अपने ही कर्मविपाकसे वह शिलापर गिरकर चूर-चूर हो गया। वहाँ भी लोकपालोंने, नहीं-नहीं श्रीनारायणके पार्षदोंने ही इसकी रक्षा की; अन्यथा इसके जीवनकी कोई आशा किसीको नहीं रही थी। इतने प्रकाण्ड वे युग्म अर्जुन-वृक्ष गिरे, उनके बीचमें यह शिशु आ गया, हम सबके बालक भी वहीं थे; पर पुनः नन्दरायके पुत्रकी रक्षा हो गयी, अन्य बालकोंको भी कोई क्षत न लगा। यह भी एकमात्र अच्युत श्रीहरिके द्वारा की हुई रक्षा है। मानव-सामर्थ्यसे परे है कि अर्जुन-तरुओंके धराशायी होनेपर उनके नीचे हमारे शिशुओंकी रक्षा कोई कर ले। अतः भविष्यमें अब कोई असुरकृत अनिष्ट व्रजको ध्वंस न कर दे, इससे पूर्व ही हम सभी श्रीकृष्ण-बलरामको, अपने-अपने बच्चोंको, मित्र, कलत्र, गोधन, अनुचर आदिको लेकर यहाँसे अन्यत्र चले जायँ। कहाँ जायँ, इस सम्बन्धमें भी मैंने पूर्ण विचार कर लिया है। कई मासके अनवरत परिश्रमके पश्चात् मैंने यह निर्णय किया है कि हम सभी वृन्दावन चले जायँ। हम गोपोंके लिये प्रथम सुविधा तो गायोंके सम्बन्धमें देखनेकी है और वह वन सुकोमल तृणपर्णसे निरन्तर पूरित रहकर पशुओंके लिये तो सर्वथा हितकर है। नव-नव वृक्षोंसे, तरुमण्डित अगणित उपवनोंसे वृन्दावन नित्य हरित-श्याम बना रहता है। नैसर्गिक विस्तृत भूभाग स्थान-स्थानपर इस भाँति बने हैं कि हम असंख्य गोप-गोपियाँ, हमारा गोधन—सबको यथेष्ट आश्रय मिल सकता है। वह वन मनोरम पर्वत-श्रेणियोंसे विभूषित है; तृणलतादिमण्डित वृन्दाकाननकी शोभा देखने ही योग्य है। मेरी तो यह इच्छा है कि हमलोग आज ही चले चलें, शकट (छकड़े) अभी प्रस्तुत हो जायँ, अविलम्ब गोधन आगे भेज दिया जाय। अवश्य ही यह मेरा प्रस्तावमात्र है, आप सभी विचार लें। आप सबको यदि मेरी योजना रुचिकर प्रतीत हो, तभी ऐसा हो।'

उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः॥
भुक्तः कथंचिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्नोपरि नापतत्॥
चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत्।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः॥
यत्र म्रियेत द्वयोरन्तरं प्राप्य बालकः।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम्॥
यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः।
तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥
वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम्॥
तत्तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त माचिरम्।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २३—२९)

—कहकर उपनन्दने आसन ग्रहण किया। समस्त सभासद् गोपोंमें उनकी वक्तृता परम उल्लास भर देती है। 'साधु-साधु' की तुमुल ध्वनिसे सभास्थल मुखरित होने लगता है। केवल व्रजेश्वर अभी भी किञ्चित् गम्भीर शान्त बैठे हैं। इसी समय सन्नन्द दैवावेश-जैसी मुद्रामें खड़े होकर व्रजेश्वरको ही लक्ष्य करके कहने लगते हैं—

तत्किमत्र निदानं नास्य जन्मलग्नलग्नमस्ति किमपि दूषणम्। सर्व एव शुभमात्रग्रहाग्रहाः। तथापि लोकोत्तरमेवादृष्टं दृष्टं च। येनैतज्जगत् पत्यंशकलितमपत्यं शकलितमहापदकस्मादेव देवदुर्लभं सम्यादितमस्ति। तदस्माभिरिदमनुमितमस्यैव स्थलस्य दूषणमेतत्। तदिदमपहाय हायनमध्ये सर्वदा सुखदं सर्वर्त्तुगुणवृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनं यामः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजेन्द्र! आप देख ही चुके हैं कि इतनी विपत्तियाँ

आयीं। आखिर इसका कारण क्या है? श्रीकृष्णचन्द्रके जन्मलग्नमें भी कोई दोष नहीं है। सूर्यादि सभी ग्रह इसके मङ्गलप्रद हैं। आपके अलौकिक भाग्यको भी हमलोग देख ही चुके हैं। गर्गाचार्यके वचनके अनुसार तो यही प्रतीत होता है कि यह श्रीकृष्ण नारायणांश है। ऐसा समस्त विघ्नबाधाहारी देवदुर्लभ पुत्र आपको प्राप्त है। यह आपके लोकोत्तर भाग्यसे ही तो सम्भव हुआ है। फिर भी विपत्ति आ रही है। अतः हमलोगोंने तो सब कुछ सोच-समझकर यही अनुमान किया है कि इस भूमिका ही कोई यह दोष है कि यहाँ इतनी विपत्तियाँ आ रही हैं। हमें तो यही उचित प्रतीत होता है कि हमलोग इसे छोड़कर चले जायँ। हाँ, यदि आज जाना आपको अभिप्रेत न हो तो आज न सही; पर शीघ्र-से-शीघ्र इसी वर्ष किसी दिन यहाँसे हमलोग सर्वदा सुखद षड्ऋतुगुणभूषित वृन्दावन नामक वनमें चले जायँ अवश्य।'

सन्नन्दकी बात समाप्त होते-न-होते प्रमुख गोप पुकार उठते हैं—नहीं-नहीं, क्षणभरका भी विलम्ब नहीं करेंगे, आज ही चलना है। वस्तुतः सन्नन्दकी भी आन्तरिक इच्छा यही है, पर व्रजेश्वरके संकोचवश वे एक वर्षकी बात कह गये हैं। कुछ युवक गोप तो अपने आसनोंसे कूदकर व्रजेश्वरके पास जा पहुँचते हैं, हाथ जोड़कर अविलम्ब यात्राकी व्यवस्था करनेकी अनुमति माँगने लगते हैं। इस समय सबकी दृष्टि केन्द्रित हो गयी है श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। सभी एक स्वरसे यही पुकार रहे हैं 'श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये बृहद्वनका अविलम्ब परित्याग अनिवार्य है।' उनका यह उन्मुक्त प्रेमिलभाव व्रजेश्वरके नेत्रोंको आर्द्र कर देता है। श्रीकृष्णचन्द्रकी मङ्गलकामनासे प्रेरित गोपोंकी इस उत्कण्ठा, इस निश्चयके सामने व्रजेश्वर अपना सिर झुका देते हैं। उपनन्द-जैसे महापण्डित, प्रवीण मन्त्री, ज्येष्ठ भ्राताके परामर्शकी, उनके द्वारा निर्दिष्ट नीतिकी विजय क्यों न होती। सबको शीघ्र-से-शीघ्र व्यवस्था कर लेनेकी— भगवान् अंशुमाली बृहद्वनको आलोकित करने आ जायँ, तबतक प्रस्तुत हो जानेकी, उनके पुण्यदर्शनके उपरान्त प्रस्थान कर देनेकी अनुमति मिल जाती है।

व्रजेश्वरीको तो चिरवाञ्छित प्राप्त हो गया। अपने नीलमणिको अञ्चलमें छिपाकर अनिष्टकी आशङ्कासे न जाने वे कितनी बार रो चुकी हैं। 'नीलमणिको लेकर कहाँ चली जाऊँ, क्या करूँ, गोकुलमें तो रहना अब सम्भव ही नहीं है।' इस चिन्तासे न जाने वे कितनी बार व्याकुल हो चुकी हैं—

नाहिन गोकुल बास हमारौ।
बैरी कंस बसत सिर ऊपर, नित उठि करै खगारौ॥
गाँम-गाँम प्रति देश-देश प्रति, लोक-लोक प्रति जानी।
यह गोपाल कहाँ लै राखौं, कहत नंद की रानी॥
सकट पूतना तृनावर्त ते यहै बिधाता राख्यौ।
कैसें मिटै कह्यौ संतन कौ, गर्ग बचन यौं भाख्यौ॥
जद्यपि परब्रह्म अबिनासी, महतारी डर मानै।
परमानंद प्रीति ऐसी पुनि, सुक मुनि, ब्यास बखानैं॥

इसलिये आज उपनन्दके व्याख्यान, वृन्दावनकी महिमा तथा सर्वसम्मतिसे अविलम्ब बृहद्वन-परित्यागके निर्णयको सुनकर व्रजेश्वरीके अन्तस्तलमें भी अतिशय उल्लासका संचार हो जाता है। सभाभवनके एक द्वारपर वृद्ध वयस्क गोपसुन्दरियोंसे आवृत हुई वे घूँघट काढ़े खड़ी हैं तथा जैसे ही वृन्दावनगमनका निर्णय हुआ कि वे श्रीकृष्ण-बलरामको व्रजेश्वरके पाससे लानेके लिये एक परिचारिका भेज देती हैं। जननीका आह्वान सुनकर दोनों भाई पिताके अङ्कसे उतर पड़ते हैं, यशोदारानीके पास चले आते हैं। जननी उन्हें अन्तःपुरमें ले जाकर सुमिष्ट दूध पिलाती हैं। फिर उनके शयनकी व्यवस्था करती हैं।

यह सब हुआ; पर यदि कहीं भगवती पौर्णमासीने बृहद्वनसे जाना अस्वीकार कर दिया तो?—यह एक कठिन प्रश्न सामने उपस्थित हुआ। इन्हें यहाँ छोड़कर व्रजेश्वर चले जायँ, यह कैसे सम्भव है? समस्त व्रज, देवी पौर्णमासीका चिरऋणी है। अधिकांशकी धारणा

है कि व्रजेश्वरको इस वृद्धावस्थामें नीलमणि-जैसे अप्रतिम सुन्दर विश्वविमोहन पुत्रकी प्राप्ति इन वृद्धा संन्यासिनीकी कृपासे ही हुई है। व्रजेश्वरको पुत्र होगा, यह भविष्यवाणी भी व्रजमें आकर देवी पौर्णमासीने ही सबसे पहले की थी। व्रजका प्रत्येक गोप, प्रत्येक गोपी—सभी इन्हें अतिशय आदर करते हैं। इनकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन कोई भी नहीं करता। अतः इन्हें छोड़कर जाना तो असम्भव है। व्रजेश्वरने तुरंत अपने छोटे भाई नन्दनको उनकी पर्णकुटीपर भेजा। सारी परिस्थिति सुनकर भगवतीने सहर्ष स्वयं भी वृन्दावन चलना स्वीकार कर लिया। फिर तो कहना ही क्या है। अपूर्व उत्साहसे व्रजपुरके समस्त गोप-गोपी यात्राकी व्यवस्थामें लग जाते हैं।

ज्योत्स्नोद्भासित बृहद्वनकी वह अन्तिम रात्रि पुरसुन्दरियोंके कङ्कण-झंकारसे, असंख्य शकटोंके तुमुल नादसे, गोपोंके 'है है, हो हो' शब्दसे, विशाल शृङ्गों एवं शङ्खोंकी ध्वनिसे, परिव्याप्त रहती है। किसीको क्षणभरके लिये भी विश्राम नहीं है। गोप दधि-नवनीत-घृतपूरित भाण्ड, रत्नपेटिका, वस्त्र-आभूषणकी पेटी एवं अपनी अन्य गृहस्थ-सामग्री ला-लाकर बाहर राजपथपर खड़े शकटोंपर रखनेमें व्यस्त हैं। गोपसुन्दरियाँ उन सामग्रियोंको एकत्रकर अपने पति-पुत्र आदिको देनेमें लगी हैं। एक शकटके पूर्ण होते ही, उसे गोप जानेवाली पङ्क्तिमें खींचकर खड़ा कर देते हैं एवं अन्य रिक्तको द्वारपर लाकर पूर्ण करने लग जाते हैं। पौगण्ड-वयस्क शिशुओंको भी आज निद्रा नहीं, वे भी इस यात्राकी व्यवस्थामें हाथ बँटा रहे हैं। अवश्य ही राम-श्याम जननीसे लालित होकर सो गये हैं। उन्हें सुलाकर व्रजेश्वरी भी रोहिणीके सहित वृन्दावनयात्राके लिये तैयारीमें जुट पड़ती हैं। पर अगणित परिचारिकाएँ हैं, श्रीरोहिणी हैं। यशोदारानीको कार्य करने कौन दे? वे तो, बस, एक कार्यमें संलग्न हैं। रामके लिये, नीलमणिके लिये, जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है, उन्हें बार-बार जाकर देख लेती हैं कि जिससे ये छूट न जायँ। नीलमणिके खिलौनोंकी पेटी तो स्वयं भर रही हैं। प्रत्येक खिलौनेमें एक मधुर स्मृति—नीलमणिकी लीलाका एक मधुर मोहन संस्मरण समाया हुआ है। हाथमें खिलौने आते ही व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें वह चित्र नाच उठता है और वे परमानन्दमें निमग्न हो जाती हैं। निशा ढल जाती है। उषाके शीतल सुखद स्पर्शसे श्रान्त हुए गोपोंमें, गोपसुन्दरियोंमें नवीन स्फूर्तिका संचार हो जाता है; पर इतने समयमें मैया तो केवल एक ही कार्य करती रही हैं। उन खिलौनोंको कभी पेटिकामें भर देतीं, फिर निकालकर बिखेर देतीं, फिर सजा देतीं, फिर क्रमशः निकालकर बाहर छोड़ देतीं। बीच-बीचमें नीलमणिके शयनपर्यङ्कके समीप जाकर देख अवश्य आतीं। श्रीरोहिणीजी आकर जब यह कार्य भी मैयाके हाथसे ले लेती हैं, तब कहीं उन्हें भान होता है कि भुवनभास्कर उदय होने ही जा रहे हैं। यात्रासे पूर्व राम एवं नीलमणिको स्नान कराकर, विभूषितकर, कलेवा कराकर मैयाको प्रस्तुत कर रखना है, यह स्मृति भी उन्हें श्रीरोहिणी ही दिलाती हैं और तब वे शयनागारमें जाकर नीलमणिको जगाने लगती हैं—

जागौ, मोहन! भोर भयौ।
फूले कमल, कुमुद मुद्रित भए, तमचुर कौ सुर हारि गयौ॥
टेरत ग्वाल-बाल सब ठाढ़े, पूरब सौं पतंग उदयौ।
सुनत बचन जागे नँदनंदन, सूर जननि तब उछँग लयौ॥

वृन्दावन-यात्राका वर्णन

व्रजपुरका राजमार्ग असंख्य शकटोंसे पूर्ण हो चुका है। उन शकटोंके ऊपरी अंशमें श्वेत, हरित, पाटल, पाण्डुर, पीत एवं अरुण वर्णकी छीटके वस्त्रोंसे मण्डप बने हैं। मण्डप चारों ओरसे रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्रोंके द्वारा प्राचीरके आकारमें घेर दिये गये हैं। उसके ठीक मध्यमें ऊपर स्वर्णकलश सुशोभित है। उनपर पताकाएँ फहरा रही हैं। मानो ये परम सुन्दर विशाल शकट अतिशय कलापूर्ण ढंगसे कनक-कलशोंपर फर-फर करती हुई पताकारूप अपनी रसनाके द्वारा रविरश्मियोंका पान कर रहे हों, साथ ही अपने सुरदुर्लभ सौभाग्यसे उल्लसित होकर ऊपर उड़ते अमरविमानोंका परिहास कर रहे हों—

उपरि परितानितसितहरितपाटलपाण्डुर-पीतारुणकिर्मीरक्षीरमण्डपेषु परितो वृतीकृतनाना-विधपरार्द्ध्यपट्टवसनेषु कनककलशोपरिपरि-पतत्पताकानिकररसनाभिरिव दिनकरकिरणकलापं कलापण्डिततया लेलिहानेषु परिहस्यमानामरविमानेषु विमानेषु।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इन शकटोंमें स्वर्णमण्डित शृङ्गोंसे सुशोभित अतिशय सुपुष्ट बलीवर्द जुड़े हैं। प्रत्येकके ग्रीवादेशमें घंटियाँ बँधी हैं, उनसे परम मनोहर झुन्-झुन्, टुन्-टुन् शब्द हो रहा है। ऐसे अगणित सुसज्जित एक पङ्क्तिमें खड़े शकटोंपर वृद्धागोपिकाएँ, वृद्धगोप, नवयुवतियाँ, गोपकुमारिकाएँ, गोपशिशु यथास्थान आसीन हुए यात्राकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस शकटपर अपने नीलमणिको अङ्कमें धारण किये व्रजराजमहिषी एवं रामको लिये श्रीरोहिणी विराजित हैं, उसकी छटा तो निराली है—

मणिखचितसुवर्णचित्रवर्णे शुचिमृदुतूलिकयानुकूलमध्ये।
गृहनिभशकटे विरेजतुस्ते सुतरुचिरोचिषि रोहिणीयशोदे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'वह एक विचित्र मणिखचित स्वर्णिम वर्णका है। उसके मध्यदेशमें उज्ज्वल मृदुल तूलिका (गद्दे) का आरामप्रद आस्तरण बिछा है। सुन्दर सज्जित गृहकोष्ठके समान उसकी रचना है। नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके महामरकत श्यामकलेवरसे झरती हुई नीलज्योति एवं बलरामके गौर अङ्गोंसे निस्सृत उज्ज्वल आभा उसे उद्भासित कर रही है। ऐसे परम सुन्दर शकटमें आसीन हुई व्रजेश्वरी एवं बलरामजननी सुशोभित हो रही हैं।'

इस शकट-पङ्क्तिसे आगे व्रजेश्वरके, व्रजवासियोंके अपार गोधनका समूह खड़ा है। बस, अब चलनेकी तैयारी ही है। अगणित गोपोंके द्वारा की हुई शृङ्गध्वनि, तुमुल तूर्यनाद और जयघोषसे आकाश गूँजने लगता है। गोपोंके पुरोहित मङ्गलपाठ करने लगते हैं। व्रजराजकुलपुरोहित महर्षि शाण्डिल्य आज स्वयं पधारे हैं तथा शिष्योंसहित यात्रासे पूर्व मङ्गलपाठ, स्तुतिपाठ कर रहे हैं—

गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३२)

नील, पीत आदि विविध वर्णके सुन्दर वस्त्र पहने, वक्षःस्थलपर कुङ्कुमकी कान्ति धारण किये, कण्ठको पदकसे अलङ्कृत किये, अङ्गोंको नानाविध मणिमुक्ता-स्वर्णाभूषणोंसे भूषित किये, रथपर बैठी गोपसुन्दरियाँ भी प्रेमावेशसे श्रीकृष्णलीलाके गीत गा रही हैं—

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः।
कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३३)

कंचन सकटहिं चढि-चढ़ि गोपी, चली जु नंदसुवन-सस-ओपी।
कंठनि पदिक जगमगत जोती, लटकै ललित सुबेसर-मोती॥
केसरि आड़ ललाटन लसी, चंद में चंद-कला-दुति जसी।
चंचल दृग अंजन छबि बढ़े, ससिन में जनु नव खंजन चढ़े॥

लाल के बालचरित जु पुनीत, लये हैं बनाइ-बनाइ सुगीत।
ठाँ-ठाँ गोपी गान जु करैं, सितल कंठ सब की हिय हरैं॥

(नन्ददास)

श्रीकृष्णचन्द्रके आविर्भावसे लेकर अबतककी समस्त लीलाएँ उनके मानसनेत्रोंके सामने एक-एक कर आ रही हैं तथा उनमें डूबती-उतराती रहकर उन-उनके संकेतसे ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रही हैं—

नन्दमहीपतिजात! नन्दयशोदामात! जन्ममहामहदिग्ध! रभितसमस्तस्निग्ध!
स्पर्शार्हितविषयोघ! अपरिमितापरदोष! शकटविघट्टनशेष! गोकुलपुण्यविशेष!
कृतनामभिरभिराम! संततरामाराम! रिङ्खणकृताङ्गणरङ्ग! अङ्गीकृतसखिसङ्ग!
लङ्घितमारुतचक्र! नन्दितगोकुलशक्र! वत्सविमोचनमोद! व्रजजनशर्मयशोद!
सर्वानन्दनवीर्य! तस्मिन् दर्शितशौर्य! अयि! दामोदरलील! अखिलसुखप्रदशील!

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे नन्द महाराजसे उत्पन्न होनेवाले! नन्दरायको भी यशका दान करनेवाली यशोदाको माता बनानेवाले! अपने जन्मके समय महामहोत्सवसे रञ्जित होनेवाले! अपनी लीलासे सभी स्नेहियोंको आनन्दित करनेवाले! अपने स्पर्शमात्रसे ही विषभरी पूतनाको नष्ट करनेवाले! दूसरोंकी मलिनतासे अनभिज्ञ रहनेवाले! शकटके खण्डित हो जानेपर भी उससे सर्वथा अक्षत बच निकलनेवाले! गोकुलके पुण्यविशेषकी प्रतिमूर्ति! गोप-गोपसुन्दरियोंके द्वारा रखे हुए नामोंके कारण अत्यन्त प्रिय प्रतीत होनेवाले! निरन्तर गोपरमणियोंका आनन्दवर्द्धन करनेवाले! रिङ्गणकर नन्दप्राङ्गणको रङ्गशाला बना देनेवाले! सखाओंको नित्य सङ्गमें लिये रहनेवाले! चक्रवातकी अवहेलना करनेवाले! व्रजेन्द्रको प्रसन्न करनेवाले! गोदोहनसे पूर्व ही वत्सोंको बन्धन-मुक्तकर उन्हें मातासे मिलाकर आनन्दित होनेवाले! व्रजवासियोंको सुख एवं यश देनेवाले सबको परमानन्दमें निमग्न कर दे, ऐसी चोरी करनेवाले! ऐसी चोरीमें शूरता दिखानेवाले! अरे उदरमें दामबन्धनकी लीलावाले! चर-अचर अखिल विश्वके लिये अपरिसीम सुखदायिनी प्रवृत्तिमें रत रहनेवाले!'

—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका वे आह्वान कर रही हैं।

इनका यह लीलागान व्रजरानीके तथा श्रीरोहिणीके कर्णरन्ध्रोंमें अमृतकी वर्षा कर रहा है। राम-श्यामके साथ अपने उस शकटपर विराजित वे दोनों इस पीयूषपानमें—लीलाश्रवणमें एकाग्रचित्त हो रही हैं। उनकी श्रवणोत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही है—

तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३४)

श्रीरोहिणी तो फिर भी कुछ सावधान हैं; क्योंकि उन्हें भय है कि ये दोनों चञ्चल बालक कहीं रथसे नीचे कूद न पड़ें। किंतु यशोदारानी तो इस यात्राके जगत्‌को भूल ही गयी हैं। नीलमणिको क्रोड़में धारण किये, सौन्दर्यपुत्तलिका-सी बनी वे गोपसुन्दरियोंके मुखसे निस्सृत लीलागानमें सर्वथा तन्मय हो रही हैं—

राज-सकट बैठी जसु सोहै, उपमा कौं त्रिय त्रिभुवन को है।
सुरपति-रवनी रमा की चेरी, सो वह चेरी, जसुमति केरी॥
गोद में सुत अति सोहत ऐसी, चंद-जननि चंदहि लिये जैसी।
सुत-गुन गोपी गावत जहाँ, दै रहि कान जसोमति तहाँ॥

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

उनके गीतका केवल एक शब्द 'जन्ममहामहदिग्ध' व्रजरानीके हृत्पटपर अङ्कित उस लीलाको उनके लिये मूर्त कर देता है, व्रजेश्वरीके लिये फिर स्मरण एवं साक्षात्कारमें कुछ भी अन्तर नहीं रहता और वे अपने नीलमणिको पुनः सर्वथा अभी-अभी जन्म देकर जन्मोत्सव देखने लगती हैं—

तिहि छिन नंद-सदन की सोभा नहिं कहि परत, लगत जिय लोभा।
इत जु बेद-धुनि की छबि बढ़ी, मंगल बेलि-सी त्रिभुवन चढ़ी॥
इत मागध सु-बंस-जस पढ़ैं, इत बंदीजन गुनगन रढ़ैं।
गावत इत जु रागिनी-राग, चुये परत जिन कें अनुराग॥

आनँदघन जिमि दुंदुभि बजैं, जिम सुनि सकल अमंगल भजैं।
सुनि कैं गोप महा मुद भरे, चले महरि-घर रंगनि रँरे॥
पहिरे अंबर सुंदर-सुंदर, जे कबहूँ निरखे न पुरंदर।
मंगल भेंट करन मैं लिए, मैन-से लरिकन आगे किए॥
गोपी मुदित भयौ मन-भायौ, महरि जसोदा छोदा जायौ।
प्रफुलित ह्वै सो लागति भली, को है प्रात कमल की कली॥
कुंकुम-रस-रंजित मुख लोने, कनक-कमल अस नाहिंन होने।
चलीं तुरत सजि सहज सिंगार, छतियन उछरत मोतियन हार॥
श्रवननि मनि-कुंडल झलमलैं, बेगि चलन कौं जनु कलमलैं।
चले जु चपल नैन छबि बढ़े, चंदन मनहुँ मीन ह्वै चढ़े॥
सुसम कुसम सीसन तैं खसे, जनु आनंद-भरे कच हँसे।
हाथनि थार सु लागत भले, कंजनि जनु कि चंद चढ़ि चले॥
मंगल-गौतन गावति-गावति, चहुँ दिसि तैं आवति छबि पावति।
नंद-अजिर में लगी सुहाई, जनु ये सब कमला चलि आई॥
छिरकत सबन हरद अरु दही, तब की छबि कछु परत न कही।
सुंदर मंदिर भीतर गई, जसुमति अति आदर करि लई॥

कभी गोपवनिताके मुखसे उच्चरित 'स्पर्शार्दित-विषयोष' की ध्वनि पूतनाकी आर्तिको सामने कर देती है—

कुष छोड़ु छोड़ु रे, हे मुरारि। बेबरन ह्वै गई जरद नारि॥

—और कभी वे शकटभञ्जन-लीलामें आविष्ट हो जाती हैं—

नंदादिक तहँ धाये आए, सकट बिलोकि सु बिस्मय पाये।
तिन सौं कहन लगे सिसु बात, अहो महर! यह तेरौ तात॥
तनक चरन ऐसैं करि करयौ, तौ यह सकट उलटि ह्वै परयौ।
कहत कि कह जानहिं ये बारे, उलटत कूट कमल कैं मारे॥
सबन कही कि नंद बड़भागी, लरिकहि रंचक आँच न लागी।
तब तैं नंद महर की ललना, पूतहि परयौ पत्याइ न पलना॥

—व्रजेश्वरीके सामने एक-एक लीला अभी इसी क्षण हो रही है—

कनक मनिमय मनहि मोहत।
परम सुंदर अजिर सोहत॥
मृदुल पगतल लसत लालन।
झकत, उझकत, करत चालन॥
हँसत, किलकत, लखत छौंहिय।
उर उमाहन भरत बा हिय॥
जुगल तन फबि धूरि धूसर।
अतुल छबि, उपमा न दूसर॥
कच झड़ले झलकि झूमत।
उड़त अलि, फिरि घुमड़ि घूमत॥
अखिल छबि आनन अखंडित।
सरद-ससि जनु अमिय मंडित॥
पय बदन द्वै रदन राजत।
बिसद-छबि बिबि बीज छाजत॥
बचन कलबल कहत तोतल।
अमृत-रस ससि स्रवत सो तल॥
कंठ कदुला मनहि मोहत।
बघ्र मिलि गज सिंघ सोहत॥
मुखर रसना चलत चालिय।
कामदूती बाकजालिय॥
रुनित नूपुर कुनित पाइन।
हंस-सुत सुर बढ़े गाइन॥
पद-पदम नख अवल राजिय।
मनहुँ मिलि नखतालि साजिय॥
राम कृस्न कुमार दोऊ।
गौर-स्याम सरीर सोऊ॥
सिसुन मैं मिलि खेल खेलत।
भजत फिरि-फिरि, मुरकि हेरत॥
कबहुँ सनमुन धाइ भागहिं।
संक मानहिं अंक लागहिं॥
कबहुँ फिरि-फिरि करन फेरत।
सिसुन कौं फिरि उच्च टेरत॥
बदन-बिधु कबहुँ कँपावत।
मातु लखि उर उमगि आवत॥
बच्छ पच्छनि झटकि डोलत।
कबहुँ मकैट निकट बोलत॥

देखि रोहिनि महरि ठाढ़िय।
पुलकि प्रेम-पयोधि बाढ़िय॥
स्रवत अस्तन दूध धारन।
सिथिल तन आनंद भारन॥
उमगि बरनि उठाइ ले तिय।
चूमि मुख पयपान देतिय॥
सीस अंचल झाँपि मेलहिं।
तोरि तिन जल पानि फेरहिं॥
देखि सिसु सुधि खेल आवत।
छाँड़ि पय उठि गोद धावत॥
जाइ मिलि खिल बाल-बंदन।
देत आनँद नंदनंदन॥
दौरि जननी लगहिं पाछैं।
संग ल्याइ लगाइ आछैं॥
अगिनि, जल, कंटक बचावैं।
कठिन छिति, पच्छी बरावैं॥

यशोदारानीको स्पष्ट दीख रहा है कि चक्रवातसे अभी-अभी मेरे नीलमणिकी रक्षा हुई है, मेरे कुलदेव नारायणने की है, अन्यथा शिशुका जीवित बच रहना असम्भव था—

प्रकास उग्र चक्रवाइ तर्क तेज नेह गौ।
दिखात दीह दंस बंस हंस छोड़ि देह गौ॥
सनारि नंद रोहिनी सुदौरि ग्वाल-गोप जे।
उठाइ लाल, अंक धारि, प्रेम-मोद सों पगे॥
प्रचंड रूप भीम देखि जीव जे हहाइ गे।
बच्यौ जु पुत्र कौन पुन्य नंदजू सँसाइ गे॥
महा सुभाग्य नंदजू कहैं जू लोग गाँवरौ।
कृपा कृपाल बिस्नु की बच्यौ जु सूनु साँवरौ॥
निहारि नंदलाल कौं अनंद नंद लीन जे।
बुलाइ बिप्र छिप्र सर्ब सास्त्र में प्रबीन जे॥
बिधान दान मान सौं प्रमान बेद कें करैं।
कुटुंब ग्याति भोजनादि बस्त्र द्रव्य दे धरैं॥

मैया वृन्दावन-गमनके लिये रथपर तो बैठी है, कुछ क्षण पश्चात् रथ प्रस्थान करनेवाला है; पर वे अनुभव यह कर रही हैं कि गोपसुन्दरियाँ आयी हैं, हँस-हँसकर उलाहने दे रही हैं—

अहो महरि! यह तुम्हरौ तात, कहा कहैं हम याकी बात।
असमय देइ बछरुवन छोरि, ठाढ़ौ हँसै खरिक की खोरि॥

× × ×

दरस कारन इकहि आवहिं।
उपालंभ बनाइ स्यावहिं॥
महरि! तू लघु सुत न मानहि।
ढीठ अति लंगर न जानहि॥
सखनि लै छबि भवन रंजतु।
खात दधि, भाजननि भंजनु॥
बात सुत की सुनै कानन।
ओढ़ि अंचल उमगि आनन॥
परसपर तहँ हास पागहिं।
देखि छबि नहिं पलक लागहिं॥

अपने नीलमणिका दाम-बन्धन एवं बन्धनमोचन—दोनों ही दृश्य जननी क्षणभरमें सम्पूर्णरूपसे ठीक वैसे-के-वैसे अनुभव कर लेती है—

स्याम बँधे देखे कसि कैं, नंद बंध छोरे हँसि कैं।
सूँघि लये चूम्यौ मुख कौं, कंठ लगे पायौ सुख कौं॥
गोपबधू चाहैं चलि कैं, देखन कौं नैना ललकैं।
गेह चलौ ल्याए मिलि कैं, मोहभरी माता हिलकैं॥

व्रजरानी और भी न जाने क्या-क्या देखतीं; किंतु सहसा महर्षि शाण्डिल्य एवं बाबाको अपने रथके समीप आये देखकर श्रीकृष्णचन्द्र उनकी गोदसे उछल पड़ते हैं। यदि पट्टवसनका वह प्राचीराकार घेरा न होता तो वे नीचे गिर पड़ते! रोहिणीजी लपककर उन्हें पकड़ लेती हैं। इतनेमें मैयाके नेत्र खुल जाते हैं। वे शङ्कित होकर पुनः श्रीकृष्णचन्द्रको बरबस गोदमें बैठा लेती हैं।

अस्तु, अब महर्षि शाण्डिल्य शङ्खध्वनि करते हुए प्रस्थानके शुभ क्षणकी सूचना कर देते हैं। उनकी

आज्ञा पाते ही उपनन्द तोरणके समीप एक अतिशय उच्च मञ्चपर खड़े हो जाते हैं तथा शकटश्रेणीको आगे बढ़नेके लिये हाथ हिला-हिलाकर संकेत करने लगते हैं। कुछ ही क्षणोंमें शकटपङ्क्ति गतिशील बन जाती है। सहस्र बलिष्ठ धनुर्धर गोप, जो व्रजेश्वरीके रथकी रक्षामें नियुक्त हैं, अपने धनुष-बाण सँभालकर चल पड़ते हैं। एक साथ अगणित कण्ठोंका जयघोष, 'है-है, आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, स्थान दो' का तुमुल नाद, असंख्य शकटोंका घड़त्-घड़त् शब्द, भेरी-शृङ्गोंका आकाशव्यापी रव—सभी मिलकर दिग्-दिगन्तको प्रतिनादित करने लगते हैं। इनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुन पड़ता—

तदा व्रजे कलकलकोटिरुत्थिता
हिहीहिहीजिहिजिहिकारमिश्रिता ।
घडद्घडद्घडदिति शाकटारवः
सवाद्यकः पुनरखिलंगिलः स्थितः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु सौ हाथ भी आगे बढ़ते-न-बढ़ते शकटोंकी गति रुक जाती है। आगे बढ़नेके लिये स्थान जो नहीं। व्रजेश्वरके तोरणद्वारसे लेकर सुदूर यमुनाकूलतक—जहाँ यमुनाको पारकर वृन्दावनमें प्रवेश करना है, वहाँतक—सभी स्थान भरे हैं। आगे अपार गोधनकी पङ्क्ति है, उसके पीछे शकटपङ्क्ति। उन्हें दोनों ओरसे घेरकर अगणित गोपयुवा धनुष-बाण धारण किये, शृङ्ग लिये खड़े हैं। शकटपङ्क्ति न आगे बढ़ सकती है, न पीछे हट सकती है। दाहिने-बायें व्रजपुरका उत्तुङ्ग प्रासाद है, उपवन हैं, सघन वन हैं। शकट किस ओर जायँ? जो निर्धारित क्रम था—आगे गोधन जायँ, उनके पीछे-पीछे शकट चलें—वह तो सर्वथा सम्भव नहीं। इतनी अपार संख्या दोनोंकी है! एक घड़ीतक ऊहापोहके अनन्तर उपनन्दजीको इस बातकी सूचना मिल पाती है और वे आदेश देते हैं कि दो पङ्क्तियोंमें होकर गोधन एवं शकट साथ-साथ चलें। कलिन्दनन्दिनीके कूलपर धारासे समानान्तर रेखारूपमें बहुत-सी गायें बढ़ा दी गयीं। बहुतोंको पीछे हाँककर नन्दप्रासादके समीप लाया गया। अब धेनुपङ्क्ति एवं शकटपङ्क्ति—दो पङ्क्तियाँ साथ-साथ चल रही हैं। फिर भी गन्तव्य स्थान—वृन्दावन एवं जिसे छोड़कर जाना है, वह बृहद्वन—दोनोंकी सीमा गोधन एवं शकटपङ्क्तिसे जुड़ी ही रहती है, वृन्दावनकी सीमा रविनन्दिनीको स्पर्श कर लेनेपर भी गोधन एवं शकट बृहद्वनके प्राचीरको पार नहीं कर पाते। इतनी लंबी पङ्क्ति है!—

प्राचुर्यतो न घटते क्रमतः प्रयातुं
धेन्वावलिश्च शकटावलिरप्यथेति।
पङ्क्तिद्वयेन चलिते युगपत्तदा ते
गव्यं गते अपि पदं जहितो न हेयम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

इस समय यमुना-तटपर फैली धेनुपङ्क्तिकी शोभा देखने ही योग्य है। उन्हें देखकर व्रजेश्वरके वन्दीजन वितर्क करने लगते हैं—

किमियं यमुनया सह रहःकथाभिलाषुकतया समागता सुरधुनीधारा।

'अहा! क्या यह सुरधुनीकी धारा है, जो यमुनाके साथ एकान्तचर्चाके लिये उत्सुक होकर आयी है, आकर मिल रही है?'

मत्त महाकाय वृषभश्रेणी एवं धेनुश्रेणीके शरीरमें आकार-तारतम्यको देखकर, बीच-बीचमें ऊँचे-ऊँचे वृषभ एवं फिर ओछे कदकी गोराशिकी शोभा देखकर वे चारण सोचने लगते हैं—

किमियं वृन्दावनरेणुजिघृक्षयाक्षया समुपसीदन्ती क्षीरनीरधेस्तरंगपरम्परा।

'ओह! यह क्या क्षीरसमुद्रकी अक्षय तरंगमाला है, जो परम पावन वृन्दावनकी रज ग्रहण करनेकी लालसासे यहाँ उपस्थित हुई है?'

नहीं-नहीं दूसरी वस्तु है! यह बृहद्वनके मूलसे जो निकल रही है! फिर क्या हो सकती है?—

किमियं क्षीरोदशायिनः शयनभावमपहाय वृन्दावनदिदृक्षयैव समुपसीदतो भोगीन्द्रस्य परमप्राचीयसी भोगकाण्डलता।

'यह क्या पातालसे उठी हुई शेषनागकी फणलताका विस्तार है? प्रतीत होता है, क्षीरोदशायी श्रीनारायणके शय्याभूत रूपका परित्याग कर वृन्दावनदर्शनकी अभिलाषासे अनन्तदेव पधारे हैं, यह उनके ही अत्यन्त दीर्घतम फण-समूहके जाल फैल रहे हैं। क्यों?'

किंतु इसका चाकचिक्य तो विचित्र है! तब—

किमियं भुवो मुक्तावली।

'क्या यह धरणीका मुक्ताहार है!'

बस बस! यही है!—इस प्रकार गोधनकी शोभासे हर्षित हुए वन्दीजन विविध प्रकारसे उसका वर्णन करते हैं। शकटपङ्क्तिकी शोभा भी निराली ही है। उसकी भी वे नाना प्रकारसे उत्प्रेक्षा करते हैं। उनकी उक्तियोंको सुन-सुनकर गोपगण आनन्दविह्वल हो रहे हैं।

ज्यों-ज्यों धेनु पंक्ति एवं शकटश्रेणी आगे बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों आकाश गो-रजसे—धूलिपटलसे परिव्याप्त होने लगता है। मानो उस शून्य पथमें कोई विचित्र शिल्पी एक सर्वथा अवलम्बनहीन मृण्मय दुर्गकी रचना कर रहा हो! अथवा—वह एक दिन था जब धरादेवी असुरभाराक्रान्त हो रही थीं। असुरोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर गौका रूप धारणकर अपना दुःख निवेदन करने वे जगत्-विधाताके समीप गयी थीं। किंतु दिन बदले और आज श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंका स्पर्शसुख पाकर वे कृतार्थ हो गयी हैं। इस अप्रतिम सुखकी सूचना धाताको देनेके उद्देश्यसे ही वे आज मानो धैर्य छोड़कर ऊर्ध्वपवनसे संचालित धूलिराशिके रूपमें—हर्षातिरेकवश अपने स्वाभाविक रूपमें ब्रह्मलोककी ओर दौड़ी जा रही हैं। उस दिन दुःखके भारसे दबी रहनेके कारण कृत्रिम रूपमें एवं मन्दगतिसे गयी थीं, आज आनन्दातिरेकसे चञ्चल हुई मानो अपने सत्यस्वरूपमें—रजकणरूपमें ही द्रुतगतिसे भागती जा रही हैं—

गोरूपेण पुरा सुरारिकदनव्याहारहेतोरगाच्छ्रीकृष्णस्य पदाब्जसंगमसुखं व्याहर्तुकामा किमु।
धूलीधोरणिभिर्धरियमधुना धूताभिरूर्ध्वानिलैर्धातुर्धामवति धाम धैर्यरहिता स्वं धाम धृत्वा पुनः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इधर व्रजरानी भावसमाधिसे जागते ही कहीं नीलमणि फिर कोई चञ्चलता न कर बैठें, इस उद्देश्यसे विविध चर्चाके द्वारा उन्हें भुलाने लगती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी कौतूहलमें भरकर जननीसे पूछने लगते हैं—

मातः क्व नु खलु गच्छन्तः स्मः?

'मैया! हमलोग कहाँ जा रहे हैं?'

जननी उत्तर देती हैं—

पुत्र! वृन्दावननामनि वनधामनि।

'मेरे लाल! वृन्दावननामक वनभूमिमें।'

श्रीकृष्णचन्द्र किंचित् विचारते हुए पुनः बोले—

कदा सदनमायास्यामः?

'घर कब लौटेंगे?'

पुत्रके इस प्रश्नपर जननीके अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है और वे कहती हैं—

वत्सास्मदनुषङ्गत एव संगच्छमानं तदास्ते।

'वत्स! घर तो हमलोगोंके साथ ही वृन्दावन जा रहा है।'

श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका पार नहीं रहता। इसके अनन्तर कुछ देर वे बलरामके साथ, शकटगतिके कारण वृक्ष, गृह आदिको घूमते-से अनुभव कर उनके सम्बन्धमें चर्चा करते हैं। फिर जननीके कण्ठमें ही झूलकर उनसे ही प्रश्न करने लगते हैं—

भवतु, तद् वृन्दावनं कुत्र?

'अच्छा, मैया! यह बता, वृन्दावन कहाँ है?'

इसका उत्तर जननी न देकर रोहिणी मैया देती हैं—

पुत्र यमुनायाः पारे।

मेरे लाल! यमुनाके उस पार!

फिर तो यमुनाके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्नोत्तर चलते हैं। पूर्ण संतोष हो जानेपर श्रीकृष्णचन्द्र इस बार श्रीरोहिणीसे ही पूछने लगे—

लघुमातः! का तत्र शातसम्पदस्ति? यदेतावता प्रयासेन प्रयास्याम।

'छोटी मैया! ठीक है; यह बताओ—आखिर वृन्दावनमें ऐसी कौन-सी सुख-सम्पत्ति है, जो हमलोग इतना प्रयास उठाकर वहाँ जा रहे हैं?'

रोहिणी मैया बोलीं—

पुत्र! क्रीडास्थानानि क्रीडनकानि च बहूनि सन्ति।

'मेरे लाल! वहाँ अनेकों क्रीडास्थान हैं। क्रीडासामग्रियाँ भी वहाँ बहुत हैं।'

यह उत्तर सुनकर तो श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दसे नाच उठते हैं। कदाचित् शकटपर न होते तो वे अभी उस दिशाकी ओर भाग छूटते।

जब रथ सघन वनके पथसे जाने लगता है, उस समय जननी एवं पुत्रका मनोहर संवाद सुननेयोग्य ही है। जानकर अनजान बने हुए-से श्रीकृष्णचन्द्र आज सर्वथा अबोध शिशुकी भाँति प्रश्न-पर-प्रश्न करते जा रहे हैं एवं जननी भी हँस-हँसकर उत्तर दे रही हैं—

कोऽसौ वृक्षः समन्तादनिशबलदलः पिप्पलः कोऽण्डकोटिं सूते सोदुम्बराख्यः क इह घनजटाव्याप्तमूर्त्तिर्वटः सः। इत्थं नव्यो वनान्तर्गतिमनु जननीडिम्भसंवादजातं लोकं पीयूषवर्षैरसुखयदखिलं तत्र तत्रातिचित्रम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णने पूछा—'अपने चारों ओर असंख्य पत्रोंको निरन्तर संचालित करता हुआ यह कौन-सा वृक्ष है?' जननी बोलीं—'यह पीपल है।' श्रीकृष्ण—'यह कोटि अण्डोंको प्रसवकर अङ्कोंमें लटकाये हुए कौन-सा वृक्ष है?' जननी—'इसे उदुम्बर (गूलर) कहते हैं।' श्रीकृष्ण—'अपनी सघन जटाओंसे परिव्याप्त अङ्गवाला यह कौन तरु है?' जननी—'यह वट है।' इस प्रकार वनमें जाते समयकी यह विचित्र प्रश्नावली—जननी-पुत्रका यह मनोहर संवाद—गोप-गोपसुन्दरियोंपर पीयूषकी वर्षा कर उन्हें परमानन्दमें निमग्न कर रहा है।

आश्चर्य यह है कि अपने-अपने रथपर आसीन प्रत्येक गोप-सुन्दरीको यह अनुभव हो रहा है कि हमारा रथ व्रजेश्वरीके रथके अत्यन्त समीप है और वह सचमुच सब संवाद अच्छी तरह सुन रही है।

जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र फिर पूछते हैं—

चित्रः कोऽयं मयूरः क इह मृदुकुहूगायकः कोकिलाख्यः को वक्तुं वष्टि वाणीं नरवदपि शुकः पुष्पपः कश्च भृङ्गः। इत्थं मातृद्वयेन प्रथमवनगमे संलपन्तौ हसन्तौ बालौ गोपालरामौ व्रजकुलमहिलाः शर्मभिः सिञ्चतः स्म॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'यह रंग-बिरंगा कौन पक्षी है? यह मयूर है। यह मृदुकण्ठसे कुहू-कुहू गानेवाला कौन है? यह कोकिलनामक पक्षी है। और यह ठीक मनुष्यकी भाँति वाणी बोलनेमें समर्थ कौन है? यह शुक है। पुष्पोंका पराग पीनेवाला यह कौन है? यह तो भ्रमर है। इस प्रकार युगल माताओंसे राम-श्याम दोनों शिशु बृहद्वनसे आगेके वनमें आनेपर बात कर रहे हैं, हँस रहे हैं तथा व्रजसुन्दरियोंपर आनन्द-धाराका प्रवाह बहाकर उनका अभिषेक कर रहे हैं।'

रविनन्दिनीका तट आनेमें तो अभी भी पर्याप्त विलम्ब है। अतः जननी नीलमणिको कलेवा कराने जाती हैं। पर नीलमणि ऐसे सरल कहाँ कि शकटपर कलेवा कर लें! वे तो नीचे उतरकर ही कलेवा करेंगे। अस्तु, शकट रोक लिया जाता है। नीचे उतरकर एक सुरम्य वन्यतरुवरकी छायामें बैठकर वे कलेऊ करते हैं। अकेले नहीं, सखाओंके साथ—

बहु व्यंजन बहु भाँति रसोई, षटरस के परकार।
सूर स्याम हलधर दोउ भैया, और सखा सब ग्वार॥

यात्राके अन्तमें यात्रियोंका यमुना-तटपर रात्रि-विश्राम तथा रात्रिके शेष होनेपर यमुना-पार जानेका उपक्रम

शकट-समूह क्रमशः कलिन्दकन्याके तटपर एकत्र होने लगता है—इस प्रकार मानो मन्दर, कैलास, हिमाचल आदि महान् महीधर-राजोंके औरस शिशु खेलनेकी लालसासे श्रेणीबद्ध होकर यमुना-तटपर आये हों, सुरराजको भी आज दया आ गयी हो, 'ये शिशु हैं, क्रीड़ा करने जा रहे हैं, इनकी पाँख क्यों काटी जाय', यह सोचकर उन्होंने इनका पक्षच्छेदन न किया हो तथा इसीलिये प्रगल्भ हुए ये निर्बाध दौड़े आ रहे हों—

यमुनातटघटमानखेलालसाः शिशव इति करुणया कुलिशकरेणाकृतपक्षच्छिदा कनकगिरिकैलाशगौरी-गुरुप्रभृतिमहामहीधरराजनिकराणां पङ्क्तीभूय चलन्ती कुमारश्रेणिरिव शकटानि पथि जनैर्व्यदृश्यन्त।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

शस्त्रधारी गोपोंके कई दल गोश्रेणीसे पूर्व ही तटपर आ गये हैं। आगे-से-आगे प्रबन्ध जो करना है। शेष सैनिक-दल गो-गोप-गोपीवृन्दको घेरे हुए उमड़ा आ रहा है। इन्हें देखकर प्रतीत होता है, मानो व्रजपुरकी राज्यश्री ही स्वयं इस अपार सैन्यबलके रूपमें मूर्त होकर अत्यन्त वेगवश आकाशको स्पर्श करती हुई चल पड़ी है, आगे-से-आगे पहुँचकर वृन्दावनको अलंकृत करने जा रही है, यहाँ इस बृहद्वनमें तो अब भूमिमात्र बची है—

एवं चलति व्रजबले जवलेलिह्यमानगगनेव सा महावनराजधानीश्रीर्मूर्तिमतीव स्वयमग्रत एव गन्तव्यस्थलीमलंकर्त्तुमिव चलितवती केवलं भूमात्रमेव तत्रावशिष्टमिव। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो हो, यमुना-संतरणकी व्यवस्थामें नियुक्त गोप, गोपसैनिक एक बार देखते हैं रविनन्दिनीकी नील लोल लहरियोंकी ओर, तथा फिर देखते हैं ढलते हुए भुवनभास्करके रश्मिजालकी ओर; एवं सबसे अन्तमें नायक गोपकी दृष्टि जाती है बृहद्वनसे आते हुए, क्रमशः निरन्तर बढ़ रहे गोधनसमूह, शकटावलि और जनसमुदायकी ओर। सबको यह जानते देर नहीं लगती कि आज तो यमुना-संतरण सर्वथा असम्भव है, रात्रिका निवास यहीं—इसी पार करना है। व्रजेश्वरकी आज्ञा असम्भव कार्यके लिये कदापि हो नहीं सकती। और वे तो अभी अत्यन्त दूर हैं। उनके रथके तटपर आते-आते अंशुमाली अस्ताचलमें समा जायँ तो भी आश्चर्य नहीं। अतः सर्वसम्मतिसे निश्चय कर, देशकालके पूर्ण पण्डित वे पुरोवर्ती गोप एवं गोपसैनिक व्रजेशकी आज्ञा लिये बिना ही इस पार विश्राम करनेके प्रबन्धमें जुट पड़ते हैं—

तस्मिन्नहनि यमुनापारप्रयाणमघटमानमिति तत्रैव वसतिमिच्छवो विनापि घोषाधीशाज्ञया देशकालज्ञास्त एव तथा संनिवेशं कारयांचक्रुः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

चार पहर ही विश्राम करना है, पर व्रजेश्वरके उन कलाविद् प्रबन्धकोंने तो देखते-देखते एक वस्त्रमय सुन्दर नगरकी ही रचना कर दी—

आततानिताः पटगृहाः परितो वितान-श्रेण्यस्तथोर्ध्वमभितः पटभित्तयश्च।
शृङ्गाटकक्रमत एव समानसूत्र-सुश्रेणयो विपणयो वणिजां विरेजुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'चारों ओरसे वस्त्रोंके गृह (तंबू) खड़े हो गये। उनके ऊपर अगणित वितान (चँदोए) तान दिये गये। इसके अनन्तर सब ओरसे घेरकर प्राचीरके रूपमें वस्त्रोंकी ही भित्ति (कनात) खड़ी कर दी गयी। बृहद्वनके व्रजपुरमें जैसे जहाँ चौरास्ते थे, ठीक वैसे-के-वैसे चौरास्ते बन गये। उन चौराहोंके क्रमसे ही सर्वत्र समान दूरीपर डोरी बाँधकर निर्मित वणिकोंकी हाट (बाजार), हाट-वीथियाँ सुशोभित होने लगीं।'

इसी वस्त्रमयी पुरीके अन्तर्देशमें, बहिर्देशमें—यथास्थान गायें आकर एकत्र होने लगती हैं। ओह! इस समय उनकी शोभाका क्या कहना!—

यत्रादौ प्रथमागता कतिपयी तस्थौ गवां संहति-स्तत्रैव क्रमतः समेत्य शनकैर्वृद्धिं प्रयान्ती ततः।

ज्योत्स्नाखण्डमिवाग्रतः समभवत् पश्चादभूत् पायसः कासारः क्रमतोऽभ्यपद्यत तदा क्षीरस्य वारां निधिः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पहले वहाँ कुछ गोश्रेणियाँ आकर खड़ी हुईं, फिर क्रम-क्रमसे और आ-आकर उनमें मिलने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे धेनुश्रेणीका विस्तार होने लगा। पहले तो प्रतीत होता था, मानो वह धेनुराशि ज्योत्स्नाखण्ड हो! फिर संख्या बढ़नेपर ऐसा दीखने लगा जैसे दुग्धमय सरोवर हो! इसके अनन्तर तो देखते-ही-देखते वह ओर-छोर-विहीन क्षीरसमुद्र-सी बनकर लहराने लगी!'

मत्त गयंद-से झूमते हुए बलीवर्द शकटोंको खींचते वस्त्रप्राचीरके विशाल द्वारसे प्रवेश करने लगते हैं। प्रबन्धक उन्हें यथायोग्य विश्रामशिविरतक पहुँचा आते हैं। बलीवर्द शकटसे खोलकर पृथक् कर दिये जाते हैं। फिर वृद्धाएँ, युवतियाँ, कुमारिकाएँ नीचे उतरती हैं। चार पहर विश्रामके लिये उपयोगी सामग्रियाँ भी वे रथसे उतारती हैं। बैलोंके रक्षकगण उनके लिये मृदुल तृण, जल, अन्न आदिका आहार प्रस्तुत करनेमें व्यस्त हो जाते हैं। वणिक् हाट सजा लेते हैं। यथायोग्य क्रय-विक्रय आरम्भ हो जाता है। अनुचरियाँ आवश्यक द्रव्य लेने हाट चली जाती हैं। गोपसुन्दरियाँ घर बसाने लगती हैं। अपने-अपने अधिकारमें आये स्थानको, अपनी रन्धनशाला, शयनागारको परिष्कृत, सुव्यवस्थित करनेमें अधिकारीगण जुट पड़ते हैं। इतनेमें ही भगवान् किरणमाली अपने चतुर्यामव्यापी यात्रापथकी परिसमाप्ति कर श्रान्त-से हुए, मानो पश्चिमदिक्-सुन्दरीके भवनमें निवास करनेकी इच्छासे नीचे उतर रहे हों—इस प्रकार क्षितिजको छूने लगते हैं—

अथैवं शकटपटलादवतरत्सु सकलजनेष्ववतार्यमाणेषु तत्समयोपयोगिभाजनेषु मोचितेष्वप्यनड्वत्सु तदाहारोपपादनपरेषु तदधिकारिषु यथायथं क्रयविक्रयपरेषु परिचारिकादिषु रसवत्यादिस्थलपरिष्कारपरेषु तदधिकारिषु भगवानपि मयूखमाली यामचतुष्टयगम्यं गमनपथमतिक्रम्य श्रान्त इव वरुणदिङ्नागरीगृहे वासं विधित्सन्निव समपद्यत।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेन्द्र, उपनन्द, अभिनन्द, संनन्द, नन्दन—पाँचों भाई एवं कतिपय विशिष्ट वृद्ध गोप तो व्यवस्थाका निरीक्षण करने पहले ही पहुँच चुके हैं। यद्यपि प्रबन्धकोंको यह आशा सर्वथा न थी कि इस अपार जनसमुदाय, शकटावलि एवं गोराशिको पार कर इनमेंसे कोई भी इतनी शीघ्रतासे तटपर आ पायेंगे, तथापि सब-के-सब शिबिरकी रचना प्रारम्भ होते-न-होते आ पहुँचे और प्रबन्धकोंकी बुद्धिकी प्रशंसा करते हुए कालोचित कर्तव्यमें योगदान देने लगे; किंतु व्रजेश्वरीका रथ अब पहुँच पाया है। एक तो अपार भीड़ थी, स्वाभाविक विलम्ब होना ही था। दूसरे उसपर आरोही कौन हैं? यशोदारानीके चञ्चल नीलमणि एवं रोहिणीनन्दन बलराम, जो उस रथपर विराजित हैं! न जाने कितनी बार मैयाको शकट रुकवाना पड़ा, कितनी बार राम-श्यामने शकटसे उतरकर समीपवर्ती कासार (तालाब)-के प्रस्फुटित पद्मोंका, पद्मपत्रोंका चयन किया, वन्यतरुओंकी छायामें बैठकर अपने द्वारा संगृहीत पत्रोंपर ही मिष्टान्न रखकर भोजन किया। फिर रथपर चढ़ते, कुछ दूर चलते। इतनेमें लता-वल्लरियोंपर कोई सुन्दर कुसुम दीख जाता और वे उसे लेनेके लिये मचल उठते। कोई अन्य गोप या गोपी चयन कर ला दे, यह कैसे सम्भव है। वे तो स्वयं चयन करके ही रहेंगे। कुसुमको अपने हाथमें लेकर ही वे शान्त होते। इसके अतिरिक्त रथ जाता होता। पुष्पित तरुश्रेणी ऊपर झूमती होती, फलभारसे लदे वृक्ष नमित हुए होते, रथको स्पर्श करते होते। यदि श्रीकृष्णचन्द्र जननीके भुलावेमें पड़ गये, उस ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी, तब तो ठीक। अन्यथा उन रंग-बिरंगे पुष्पगुच्छ एवं फलगुच्छोंको तोड़कर दे देनेके लिये वे जननीको विवश कर देते। रथ रुकता, व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणी रथसे हाथ बढ़ाकर पुष्प तोड़तीं, फल तोड़तीं और जब श्रीकृष्णचन्द्रके दुकूल पूर्ण हो जाते, तब कहीं शकट बढ़ पाता। श्रीकृष्णचन्द्र दोनों हाथोंसे अन्य शकटोंपर पुष्पोंकी वर्षा करते और प्रसन्न होते। इसीलिये रथ इतने विलम्बसे आया है, सांध्यश्री जब रविनन्दिनीके परिसरको रञ्जित करने लगती हैं, तब पहुँच पाया है।

विहंगम मधुर कलरव करते हुए आकाशपथसे

अपने आवास-नीड़की ओर उड़े जा रहे हैं। मयूर आदि पक्षी ऊँचे वृक्षोंकी शाखापर निविष्ट हो चुके हैं। मृगोंके दल मण्डलाकार हुए, सब दिशाओंकी ओर मुख किये शान्त बैठे मन्द-मन्द रोमन्थन (पागुर)-में तल्लीन हैं। अतिशय मधुपानसे मुग्ध मधुकरवृन्द, कमलकोश निमीलित हो जानेके कारण, वहीं बन्दी बन चुके हैं, कुमुदिनी अपनी अभिलषित वेलाका समागम देखकर प्रफुल्लित हो रही है, हँस उठी है। अभी-अभी निर्मित प्रत्येक वस्त्रगृहके अभ्यन्तर दीप प्रज्वलित हो चुके हैं, उन दीपोंकी ज्योति सहृदय जनकी हृदय-ज्योतिकी भाँति बाहर भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगी है। प्रत्येक पथमें व्रजेशके प्रहरीगण अपने-अपने स्थान ग्रहण कर चुके हैं। ऐसे अपने अभिनव शासनका विस्तार कर प्रदोषलक्ष्मी मानो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी परिचर्या करनेके उद्देश्यसे यहाँ पधारी हों, इस प्रकार उस यमुनातरङ्गमुखरित वनप्रान्तरको आच्छादित कर लेती हैं—

ततश्च कुलायकुलाय समुन्मुखतया नभसि समुड्डीयमानेषु कलितकलरवेषु खगकुलेषु, उच्चतरं तरुमनु कृतोपवेशेषु मयूरादिषु, मण्डलीभूय सर्वतो दिगभिमुखं निषद्य रोमन्थमन्थरेषु मृगनिकुरम्बेषु, कमलकुहरविहरणवशतया बन्दीभवत्सु मधुकरनिकरेषु × × × अभिलषितसमवासादनेनेव हसितविकसितवदनासु कुमुदिनीषु × × × प्रतिपटभवनकुहरमधिज्वाल्यमानेषु बहिरपि सहृदयहृदयप्रकाशेष्विव दृश्यमानेषु दीपेषु प्रतिसरणि समुपविष्टेषु यामिकेषु कापि प्रदोषलक्ष्मीर्भगवन्तमुपचरितुमाजगामेव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अब व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणी श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीबलरामको अङ्कमें धारण किये रथसे उतरती हैं, उतरकर अपने लिये ही बने एक परम सुन्दर विश्रामागारमें चली जाती हैं। अगणित दास-दासियोंने सब कुछ पहलेसे ही सुव्यवस्थित कर रखा है। मैया एवं श्रीरोहिणीके लिये एक ही कार्य बचा है। वह यह कि यहाँ इस वनपथके वस्त्रमय गृहमें भी वे दोनों राम-श्यामके समीप बैठकर यथेच्छ लाड़ लड़ायें। इसीलिये मैया आते ही राम-श्यामको ब्यारू (रात्रिभोजन) करानेमें लग जाती हैं। उसी समय असंख्य गायोंके एक साथ अविराम दोहनसे उत्थित 'घर-घर' का महान् रव श्रीकृष्णचन्द्रको सुन पड़ता है। पयोधिमन्थन-सी वह तुमुल ध्वनि—जैसे-जैसे दुग्ध एकत्र होकर दोहनपात्रमें घूमने लगता है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर गम्भीर मनोहर मधुर होती जाती है तथा उसे सुन-सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दमें निमग्न होने लगते हैं—

भूयान् दोहरवः पयोधिमथनध्वानाकृतिर्दोहनीगर्भ-भ्रान्तगभीरमुग्धमधुरः कृष्णस्य रस्योऽभवत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु कुछ ही क्षणोंमें शैशवोचित आलस्य श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें भरने लगता है। मैया अनेकों मनुहार कर, बातें सुना-सुनाकर उन्हें चैतन्य रखना चाहती हैं; अन्यथा उनके नीलमणि भूखे जो रह जायँगे। 'अरे नीलमणि! देख बेटा, वह देख! दुहनेवाले गोप तेरी धवलीको, शबलीको दुहने जा रहे हैं। अरे, देख तो सही, उनके नाम ले-लेकर वे उन्हें उच्च कण्ठसे पुकार रहे हैं। अरे! आयी! आयी! वह देख! पुकारका उत्तर देती, बदलेमें हाम्बारव करती शबली आ गयी, अहा हा! गायोंकी भीड़से निकलकर 'हुम्मा-हुम्मा' करती धवली भी दौड़ आयी। जा, तू तो सो रहा है और तेरी गायें कूद रही हैं। वह देख, वे आकर गोपोंके निकट खड़ी हो गयीं, गोप उनके अङ्गोंपर बार-बार हाथ फेर रहे हैं, उनका अङ्गमार्जन कर रहे हैं। ओह! सचमुच तेरी शबली गाय कितनी सुन्दर है, तू देख तो भला! बलिहारी तेरी धवलीके मनोहर सौन्दर्यकी।'

नामग्राहं प्लुतवचनया गोदुहाऽऽह्वयमाना हम्बारावैः प्रतिरवकरी धाविता धेनुवृन्दात्। अभ्यायाता निकटमसकृत् पाणिना मृष्टगात्री काचित्काचित् क्वचन रुचिरा नैचिकी दृश्यते स्म॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

—इस प्रकार तत्कालीन गोदोहनके दृश्योंका वर्णन कर मैया श्रीकृष्णचन्द्रको सजग रखनेका प्रयास करती हैं। पर श्रीकृष्णचन्द्र तो अर्द्धचर्वित ग्रास मुखमें लिये तन्द्रित होकर जननीकी गोदमें लुढ़क ही पड़ते हैं। यही स्थिति अग्रज श्रीबलरामकी भी है। अस्तु, मैया दोनोंका मुख प्रक्षालनकर, फिर क्रमशः शयनागारमें

ले जाकर एक परम सुन्दर शय्यापर शयन करा देती हैं। इतनेमें ही विशिष्ट गोपोंके साथ व्रजेन्द्र अपने शिविरमें पधारते हैं। मैया उन सबको भोजन कराती हैं। फिर श्रीरोहिणीके सहित स्वयं भी किञ्चित् आहार कर अपने नीलमणिके समीप चली जाती हैं।

प्रत्येक व्रजवासीको सभी प्रकारकी सुविधाएँ प्राप्त हो गयी हैं। खान-पान-विश्रामकी इतनी सुन्दर व्यवस्था इस अस्थायी शिबिरमें भी हो गयी है कि सबको बृहद्वनमें अपने पूर्व आवासमें ही होनेका-सा भान होने लगता है। भोजन-पानसे निवृत्त होनेके अनन्तर उल्लासमें भरे, इस वस्त्रमयी पुरीकी रमणीय शोभाका दर्शन करते हुए सर्वत्र घूमकर वे व्रजपुरवासी नर-नारी—आबाल-वृद्ध सभी सुखपूर्वक गम्भीर निद्रामें अचेत होने लगते हैं। किसीको कोई शङ्का नहीं, भय नहीं। सर्वत्र व्रजेशके प्रहरी सावधान-सजग जो हैं। चारों ओरसे प्रहरियोंके उच्चकण्ठसे निकली हुई, उनके जागरण-कौशलका प्रदर्शन करनेवाली ध्वनि जो आ रही है। और फिर वह कालिन्दीका 'कल-कल' नाद! शरद्-हेमन्तकी संधिपरकी शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना—गोपी-गोप गम्भीर निद्रामें विभोर क्यों न हों!

अस्तु, मध्यनिशा आती है। फिर क्षण-क्षण करके तृतीय यामका भी अवसान हो जाता है। व्रजपुरन्ध्रियाँ जाग उठती हैं, शय्या परित्यागकर पवित्र होकर अतिशय पवित्र वेष-भूषा धारण करती हैं। फिर उस वस्त्रमय गृहके अलिन्ददेश (बाहरके चबूतरे)-में चली जाती हैं। अलिन्द उस समय भी प्रज्वलित दीपसे उद्भासित हो रहा है। वहीं वे वास्तुपूजोपहार समर्पित करती हैं। यह करके दधिमन्थनमें संलग्न होती हैं। मन्थनके समय तो उनकी दैनंदिनी चर्या ही है बाल्यलीलाविहारी स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका गुणगान करना। अतः आज इस समय भी वे मधुर कण्ठसे गायन करने लगती हैं। साथ ही मन्थनक्रियासे स्पन्दित हुए उनके मणिमय मञ्जु मञ्जीर, वलय आदि विविध भूषण मृदु, मधुर झंकार करने लगते हैं। इनमें ही मन्थन-गगरीके अभ्यन्तर होनेवाले मसृण गभीर नादका, संगीतकी सुन्दर स्वर-लहरीसे निस्सृत मधुरिमाकी पुट लेकर अतिशय ललित हुए 'घर-घर' रवका योग हो जाता है। ओह! फिर तो जगत्के अशेष अमङ्गलको निर्मूल कर देनेवाली इस ध्वनिके लिये कहना ही क्या है! दिगङ्गनाएँ प्रतिध्वनि करके इसका और भी विस्तार कर देती हैं। यह परम मङ्गलघोष अन्तरिक्षके विमानोंपर सुप्त सुरसुन्दरियोंके कर्णरन्ध्रमें प्रविष्ट होने लगता है। अहा! यह अप्रतिम लीला-श्रवण-सुख! इसकी तुलनामें तो देवस्पर्शसुख नगण्य है, हालाहलकी ज्वाला है। वे मुँह फेरकर उठ बैठती हैं। एकान्तभावसे गोपसुन्दरियोंके इस सुधास्रावी मङ्गलगानको सुन-सुनकर आनन्द-रस-मग्न होने लगती हैं। उनके मनकी समस्त वृत्तियाँ व्रजशिबिरकी ओरसे आनेवाली इस मनोहर ध्वनिमें ही विलीन हो जाती हैं—

यामैकशेषा रजनी यदा समजनि तदा शयनतलादुत्थितवतीभिरतिशुचितरवेशभूषाभिराभीरभीरुभिरपि प्रतियटगृहालिन्दं दीपितदीपं कृतवास्तुबलिभिरभितो भगवद्बालकृष्णगुणगणगानकलरवकर्णरम्यं युगपद्विधीयमानस्य दधिमथनस्य मणिमयमञ्जुमञ्जीरवलयादिविविधभूषणशिञ्जितसहचरेण गर्गरीकुहरविहरमाणमसृणतरगभीरनिनदेन गानकलरवमधुरिमसरसतयातिशयसुललितेन जगदमङ्गलसमूलनिर्मूलीकरणकुशलेन दिगङ्गनागणकृतानुध्वननविरचितपरिपोषेण तत्क्षणममराङ्गनानामपि पतिशयनजुगुप्सया त्वरितमेव जाग्रतीनामेकान्तभावेन तमेव घोषनिर्घोषमाकर्णयन्तीनां श्रवणानन्दो जायते स्म।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गोपरमणियोंका गान सुनकर यशोदारानी भी उठ बैठती हैं। सदा तो मैया प्रथम जागती थीं, फिर व्रजसीमन्तिनियोंका दधिमन्थन एवं श्रीकृष्णलीलागान आरम्भ होता था। पर आज क्रम बदल गया। आज मैया अतीतकी स्मृतिमें ऐसी फँसीं कि और सब कुछ भूल गयीं। नीलमणिका उनकी कोखसे भूमिपर पदार्पण, श्रीवसुदेवके दूतका आगमन, छः दिनका अखण्ड जन्मोत्सव-समारोह एवं छठीपूजन, पूतनामोक्षण, श्रीधर ब्राह्मणका प्रवञ्चन, शकटभञ्जन, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठपूजन, तृणावर्तनिधन, नीलमणिका नर्तन एवं

चन्द्रखिलौना-याचन, रासलीलादर्शन, मृत्तिकाभक्षण, फलवालीके दिये फलोंका परिवेषण, विविध भाँतिसे लालन-पालन, कण्वका खीरभोजन, शालग्रामदेवका अपहरण, श्रीकृष्णचन्द्रका वन्यक्रीडन एवं जननीद्वारा 'हाऊ' का भयप्रदर्शन, चोटी बढ़नेके प्रलोभनसे नीलमणिका दुग्धपान, गोपसुन्दरियोंके घर जा-जाकर नवनीत-अपहरण, नानाविध उपालम्भके मिससे गोप-सुन्दरियोंका व्रजेश्वरीके समक्ष श्रीकृष्णलीलाकीर्तन, मुक्ततरुसे मुक्ताफलका सृजन, अन्य गृहमें न जानेके लिये जननीका प्रबोधन, पुत्रके लिये दधिमन्थन, नीलमणिका दधिभाण्डभञ्जन, जननीकृत शासन एवं उदरबन्धन, अनुजके बन्धनसे बलरामका रोदन, यमलार्जुनतरुका पतन, श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त विहरण एवं जननीकृत आह्वान तथा अन्तमें सबके परामर्शसे वृन्दावनकी ओर गमन—इन समस्त लीलाओंको, इनसे सम्बद्ध अगणित घटनावलीको, अपने नीलमणिकी असंख्य मृदुल मनोहर उन्मादिनी बाल्यभङ्गिमाओंको बारंबार स्मरण करती हुई जननी इनमें ऐसी डूबीं कि समयपर जागना भी भूल गयीं। अखण्डरूपसे दिनभर अपने नीलमणिकी लीलाका ही गान सुनते रहनेपर वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके चित्तकी यह अवस्था हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है; आश्चर्य तो यह है कि इस समय पुनः गोपरामाओंके उन्हीं गीतोंको श्रवणकर वे सर्वथा बेसुध नहीं हो गयी हैं, अपितु तन्द्रासे जाग उठी हैं! किसी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही ऐसा हुआ है। अन्यथा मैया यदि सतत स्नेहोन्मादिनी बनी रहें तो नीलमणिकी सँभाल कौन करे। वास्तवमें तथ्य यही है कि उनके नीलमणिकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्ति ही उन्हें रसास्वादन करानेके उद्देश्यसे ही मैयाको आत्मविस्मृत करती हैं और फिर आवश्यकताके समय बाह्य जगत्‌में ले आती हैं। अस्तु, व्रजेश्वरी उठती हैं, उठकर वस्त्रपरिवर्तन कर अपने नीलमणिके प्रातर्भोजनकी सामग्रियाँ एकत्र करने लगती हैं। वास्तुपूजन तो श्रीरोहिणीने जननीके उठनेसे पूर्व ही कर लिया है एवं दासियाँ दधिमन्थनमें लग चुकी हैं।

जिस प्रकार बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ हुई थी, सभी अपने-अपने गो-महिषोंको एकत्रकर, सामग्रीको शकटोंपर आरोपितकर चले थे—

व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३०)

—उसी प्रकार इस विश्रामशिबिरसे भी चल पड़नेके लिये व्रजपुरवासी प्रस्तुत होने लगते हैं। किरणोदय होनेपर यमुनाको पार जो करना है। उपनन्दका यही आदेश सबको कल ही शयनसे पूर्व मिल चुका है। फिर भी दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ एक बार नन्दनन्दनका मुखचन्द्र निहार लेनेके लिये विविध बहानोंसे व्रजरानीके शिबिरमें आ रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी आज अपने-आप ब्राह्ममुहूर्तमें ही जाग गये हैं। उनका दर्शन पाकर व्रजपुरन्ध्रियाँ कृतार्थ हो रही हैं।

पूर्वगगन अरुण रागसे रञ्जित होने लगता है। व्रजेश्वर अपने इष्टदेव नारायणकी अर्चनामें संलग्न हैं। व्रजेश्वरी नीलमणिको अङ्कमें धारण किये अतिशय संनिकट यमुनाप्रवाहमें स्नान करने जा रही हैं। उस समय तपनतनया श्रीयमुनाकी शोभा भी देखने ही योग्य है—

अति मंजुल जल प्रवाह, मनोहर सुखावगाह,
विदित राजत अति, तरनि-नंदिनी।
स्याम बरन झलकत रूप, लोल लहर बर अनूप,
सेवित संतत मनोज, बायु मंदिनी॥
कुमुद-कंज-बन बिकास, मंडित दिसि-दिसि सुबास,
गुंजत अलि-हंस-कोक मधुर छंदिनी।
प्रफुल्लित अरबिंद-पुंज, कोकिल कलसार गुंज,
गावत अलि मंजु पुंज, बिबुध बंदिनी॥
नारद-सिव-सनक-ब्यास ब्यावत मुनि धरत आस,
चाहत पुलिन बास, सकल दुख निकंदिनी।
नाम लेत कटत पाप, मुनि-किंनर-ऋषि-कलाप
करत जाप परमानंद, महा अनंदिनी॥

व्रजवासियोंके यमुना-पार जानेका वर्णन; श्रीकृष्णका वृन्दावनकी शोभाका निरीक्षण करके प्रफुल्लित होना; शकटोंद्वारा आवास-निर्माण

वृन्दावन पहुँचनेके उद्देश्यसे सर्वप्रथम गोपोंकी अपार धेनुराशि यमुना-संतरण कर रही है। गोप बार-बार 'ही-ही' का तुमुलनाद करते हुए उन्हें उत्साहित कर रहे हैं, पार पहुँच जानेकी प्रेरणा कर रहे हैं। गायें भी अपने हम्बारवसे उन गोपरक्षकोंके आदेशका अनुमोदन-सा करतीं, उन्हें प्रत्युत्तर-सा देतीं, प्रखर धाराको चीरती हुई अग्रसर हो रही हैं। परिश्रमजन्य निःश्वासकी गतिसे उनके नासापुट विस्फारित हो गये हैं, संतरणक्रियासे शरीरके आगेवाले अंश ऊपर उठे हुए हैं। इस प्रकार क्रमशः धाराको पारकर वे यमुनाके उस पार पहुँच रही हैं—

हीहीकारध्वनिभिरसकृद्गोपकैः प्रेर्यमाणं
हम्बारावैरनुमतिकराण्युत्तराणीव कुर्वत्।
स्फायद्घोणं श्वसितपवनैरुन्नमत्पूर्वकायं
पार्श्वस्रोतस्तदथ यमुनां धेनुवृन्दं ततार॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

असंख्य गोवत्स भी निःशङ्क उस पार पहुँच रहे हैं। अभी उनके मस्तकपर सींग भी नहीं उगे हैं, छोटा-सा सुन्दर सिर है, पर संतरणके उच्छ्वाससे वे परिपूर्ण हैं। शरीर भी छोटा ही है, इसीलिये अतिशय वेगसे, सुखपूर्वक वे धाराका अतिक्रमण करते जा रहे हैं। उनके लघुपुच्छके लोम जलसे भीगकर भारी हो चुके हैं। अतः वे उसका संचालन नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी उन्हें कोई भय नहीं है। उनकी जननी उनके आगे-आगे तैरती जो जा रही हैं। अपनी माताके पीछे-पीछे वे गोवत्स भी सर्वत्र सकुशल पार उतर रहे हैं—

शृङ्गाभाववशाल्लघूनि वदनान्युल्लासयन्तः सुखं
स्तोकत्वादपि वर्ष्मणोऽतितरसा निर्लङ्घयन्तो जलम्।
पुच्छानां सलिलाप्लुतौ गुरुतया नोल्लासनेऽतिक्षमाः
क्षेमं वत्सतराः प्रतेरुरभितः स्वस्वप्रसूपूर्वतः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो नवप्रसूत, आजकलमें उत्पन्न हुए अत्यन्त छोटे गोवत्स हैं, स्वयं तैरकर पार जानेमें असमर्थ हैं, उन्हें संतरण-पटु गोप अपने कंधोंपर बिठाकर, स्वयं तैरकर उस पार ले जा रहे हैं। उनके चार पैरोंमेंसे दोको वामस्कन्धपर, दोको दक्षिणपर धारणकर, गोवत्सोंको प्रथम सुखपूर्वक पीठ एवं कंधेपर यथोचित बैठाकर, कहीं वे बीच धारामें कूद न पड़ें, इस आशङ्कासे लिये उनके चारों पैरोंको अपने वक्षःस्थलसे सटाकर एक हाथके द्वारा दृढ़तापूर्वक दबाये हुए एवं दूसरे हाथसे स्वच्छन्द तैरते हुए वे कुशल तैराक गोप उन्हें पार पहुँचा दे रहे हैं। आगे-आगे तो स्कन्ध एवं पीठपर गोवत्स धारण किये गोप तैरते जा रहे हैं एवं उनके पीछे-पीछे उन गोवत्सोंकी माताएँ 'हुम्मा-हुम्मा' करती रविनन्दिनीकी धाराको विदीर्ण करती अतिशय वेगसे संतरण करती जा रही हैं—

ग्रीवापीठेषु कृत्वोरसि मृदुचरणान् बाहुनैकेन रुद्ध्वा
वत्सान् सद्यः प्रसूतान् प्रतरणपटवो बाहुनान्येन केचित्।
स्वच्छन्दं संतरन्तः कलितकलघनस्वानमेषां प्रसूभिः
पश्चात् संगम्यमानास्तरणिदुहितरं गोदुहः सम्प्रतेरुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उन परम श्रेष्ठ वृषभोंके यमुना-संतरणकी छटा तो

निराली ही है। उनके पूर्ण परिपुष्ट विशाल ककुद्से कालिन्दीकी लहरें टकराती हैं, टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। स्रोतका वेग अत्यन्त प्रबल होनेपर भी ये बलदृप्त वृषभ अत्यन्त सरल भावसे तैरते जा रहे हैं। उनके ककुद्के निकट जलस्रोत किञ्चित् रुद्ध होकर ऊपर उछलने लगता है। तरंगें ककुद्का अभिषेक करने लगती हैं। इस आघातसे उन वृषभोंको ऐसा भान होता है, मानो लहरें उनसे युद्ध करने आयी हों। वे क्रोधमें भरकर अतिशय सुन्दर मुद्राका प्रदर्शन करते हुए अपनी ग्रीवा टेढ़ी कर लेते हैं तथा सींगोंसे लहरोंपर प्रहार करने लग जाते हैं। इस प्रकार बीच-बीचमें लहरोंसे खेलते, सिर उठाये, अपने दीर्घश्वास एवं संतरणकी वेगपूर्ण गतिसे धाराको क्षुब्ध करते हुए वे उस किनारे जा खड़े होते हैं—

पूर्णाभोगे तरंगान् सुमहति ककुदे जर्जरीभावमानान्
ग्रीवाभङ्गाभिरामं प्रकुपितमनसस्ताडयन्तो विषाणैः।
स्रोतो वेगेऽपि तुङ्गे त्वरितमृजुतरं पुंगवाः पुंगवाना-
मुन्मूर्द्धानोऽतिदीर्घश्वसितजवभरोद्धूतमम्भः प्रतेरुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम अपने विशाल शकटपर व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणीके पार्श्वमें खड़े रहकर अपार गोधनकी यमुना-संतरण-लीला देख रहे हैं। ऐसा अभिनव कौतुक प्रथम बार देखनेको मिला है। उनके आनन्दका पार नहीं। अपने करपल्लव नचा-नचाकर वे रोहिणीमैयाको, व्रजरानीको बार-बार किसी-न-किसी गोविशेषकी ओर, उसकी संतरण-भङ्गिमाकी ओर देखनेकी प्रेरणा करते हैं तथा रह-रहकर शकटसे कूद पड़नेको उद्यत हो जाते हैं। यदि दोनों माताएँ निरन्तर सजग न होतीं तो न जाने अबसे कितना पहले वे धारामें कूदकर सम्भवतः किसी तैरते हुए गोवत्सकी पूँछ पकड़ लेते। उनसे कुछ ही दूरपर एक ऊँचे टीलेपर खड़े व्रजेश्वर अपने साँवरे पुत्रकी आनन्दमुद्रा निहार-निहारकर नेत्र शीतल कर रहे हैं। पार जाती हुई गायोंकी व्यवस्थाको तो वे कभीके भूल चुके हैं। उनकी वृत्ति सब ओरसे सिमटकर श्रीकृष्णचन्द्रमें लग रही है।

जो हो, धीरे-धीरे धेनुसमूह, वृषभोंके दल—सभी पार हो गये, कालिन्दीके कर्पूरधूलि-पटलसदृश स्वच्छ सैकत-तटपर श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो गये। मानो संतरणजन्य परिश्रमके कारण थके-से होकर वे विश्राम कर रहे हों। इधर नौकाएँ एकत्र होने लगती हैं। गायें तो पार हो चुकीं, अब इन शकट-समूहोंको जो पार करना है। इन नौकाओंसे यमुनाके वक्षःस्थलपर सुन्दर सेतुकी रचना होगी और उसपर शकट एवं गोपी-गोप पार उतरेंगे। अस्तु, सेतुरचनामें कुशल गोप जुट पड़ते हैं। केवट उनके आदेशानुसार इस तटसे उस तटतक एक पंक्तिमें नौकाएँ खड़ी करते जा रहे हैं एवं कलाविद् गोप उन्हें काश, कुश, सरकंडे एवं बाँसके सहारे परस्पर संनद्ध करते जा रहे हैं। देखते-देखते दोनों किनारोंके मध्यमें अत्यन्त सुन्दर सेतु निर्मित हो जाता है। इतना सुदृढ़ एवं भयबाधाशून्य कि मानो एक विशाल राजपथ ही यमुनाकी लहरोंपर फैला हो!—

काशकुशशरवंशवैरलंकर्मीणनिर्मितपरस्परनद्ध-
प्लवराजी राजपद्धतिरिवासम्बाधतया साधिता।

(श्रीगोपालचम्पूः)

उसी सेतुपर 'घड़-घड़' करती हुई शकटश्रेणी चल पड़ती है। पुनः व्रज-सुन्दरियोंका गायन आरम्भ होता है। गोपोंके आनन्दातिरेकवश उच्च हास्यसे आकाश गूँज उठता है। दल-के-दल युवक गोप नाचते-कूदते, नाना प्रकारकी क्रीड़ा करते हुए चल पड़ते हैं। क्रमशः सेतुको पारकर सभी वृन्दावनकी भूमिमें पदार्पण करते हैं। राम-श्यामको अङ्कमें धारण किये श्रीरोहिणी एवं व्रजेश्वरी भी अपने विशाल रथपर आसीन हुई इस पार आ जाती हैं। बस, इस पार आने भरको—शकट इस तटको छू भर ले, इस बातकी देर थी; फिर तो राम-श्यामको मैया रथपर बैठाये रख

सकें, यह असम्भव है। मैयाकी सारी सावधानी धरी रह गयी, वे दोनों विद्युद्गतिसे शकटसे नीचे कूद ही तो पड़े। कूदकर सुबल, श्रीदाम आदि सखाओंको अतिशय उच्च कण्ठसे पुकारने लगे। वे गोपशिशु भी मानो इस प्रेमिल आह्वानकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। सब-के-सब एकत्र हो जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटनघटनापटीयसी योगमायाशक्तिके प्रभावसे अबतक प्रत्येक गोपशिशुको यही अनुभव हो रहा था, बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ होनेके समयसे अबतक सबकी यही प्रतीति थी कि उसका रथ एवं श्रीकृष्णचन्द्रका रथ—दोनों ही सदा साथ-साथ चल रहे हैं, उसका रथ ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रके रथसे निकट है। फिर आह्वान पा लेनेपर उनके एकत्र होनेमें क्या विलम्ब होता! असंख्य रथोंपर आसीन वे गोपशिशु क्षणोंमें ही श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आ पहुँचते हैं। आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावनकी शोभा निहारने उस ओर अग्रसर होने लगते हैं तथा ये गोपशिशु भी—कुछ उनके आगे, कुछ पीछे रहकर—साथ-साथ ही चल पड़ते हैं। प्रतिक्षण नव-नव शोभा धारण करनेवाले, अत्यन्त रहस्यपूर्ण इस वृन्दावनका तो कहना ही क्या है! जिधर दृष्टि जाती है, शोभाकी राशि बिखर रही है। श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम कभी बायीं तो कभी दाहिनी ओर दृष्टिपात करते हुए, वनका पर्यवेक्षण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करने लगते हैं—

रामकृष्णौ च बद्धतृष्णावासादिततीरोपकण्ठावुत्कण्ठया भुवि शकटादुत्प्लुतौ प्लुतसम्प्लुताह्वानतः सुखसमन्वितं सखीनन्वग्विधाय प्रत्यग्रमपि प्रत्यग्रायमाणवैचित्रीगहनं गहनमवगाहमानौ सव्यापसव्ययोः पश्यन्तौ चरणचारितामेवाचरितवन्तौ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

कविकी कल्पना आज सत्य हुई। उसकी रसनाकी ओटमें स्वरोंकी झंकार करती सुरसुन्दरीका स्वप्न आज मूर्त हो गया। कवि जब कभी भी शुक-पिक आदि कलकण्ठ वन-विहंगमोंकी काकली सुन पाता है, तब उसे कल्पना-राज्यमें अनुभूति होती है—यह काकली नहीं, यह तो संगीत-स्वरलहरी है। उसके नेत्र मन्द-समीर-संचालित लता-वल्लरियोंके स्पन्दनको नृत्यके रूपमें ही अनुभव करते हैं। मेघके समागमसे पृथ्वीपर उठी हुई अङ्कुरराशिको देखकर कविको यह भान होता है कि ये अङ्कुर नहीं, यह तो हर्षवश धरासुन्दरीको रोमाञ्च होने लग गया है। अपनी इस अनुभूतिको वह काव्यमें गुम्फित कर देता है। पर उसकी यह अनुभूति सार्वजनीन नहीं हो पाती। जनसाधारणके लिये विहंगम-काकली, लतास्पन्दन, भूमिका अङ्कुरोद्गम—सभी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। किसीको इनमें गान, नृत्य एवं रोमाञ्चका अनुभव कदापि नहीं होता। कविकी कल्पना कल्पना ही रह जाती है, सत्य बनकर प्रकट नहीं होती। किंतु कदाचित् उसके नेत्र प्राकृत सौन्दर्यसे ऊपर उठ जाते, वाग्वादिनी भी कमलयोनिसे सृष्ट जगत्को भूलकर नित्य चिन्मय वृन्दावनको देखने लग जातीं, इस समय वृन्दावनमें विहरणशील श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन कर पातीं, वीणाधारिणीके नेत्रोंमें नेत्र मिलाकर कवि भी इस अप्रतिम सौन्दर्यकी झाँकी कर पाता और फिर काव्य-रचना होती, अनुभवको शब्दका रूप मिल जाता तो वह सौन्दर्योक्ति निश्चय ही कल्पना न होती, कल्पना प्रतीत होनेपर भी कविका वर्णन अक्षरशः सत्यका निदर्शन होता; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रका सांनिध्य पाकर आज विहंगमोंकी काकली काकली नहीं रही है, वास्तवमें ही संगीतकी मधुर रागिणी बन गयी है; आज तरु-शाखाओंसे लिपटी लता-वल्लरियाँ पवन-संचारित होकर स्पन्दित हो रही हों—यह बात नहीं, अपितु वे श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे उल्लसित होकर सचमुच ही नृत्य कर रही हैं; भूमिपर अङ्कुरराशि उग आयी हो, यह नहीं, सत्य-सत्य ही वृन्दाकाननको धारण करनेवाली धराकी अधिष्ठात्री श्रीकृष्णचन्द्रके

चरणस्पर्शसे रोमाञ्चित हो रही है। ये गायन, नर्तन-पुलकोद्गम कविकी कल्पनामात्र नहीं, काव्यशास्त्रके रूपक अलंकारभर नहीं, ये तो चिदानन्द-परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके वृन्दावनमें पदार्पणसे व्यक्त होनेवाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं। प्राकृत नेत्र-मन भले इन्हें देख न सकें—इनका अनुभव न कर पायें, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके कृपाकणसे पूत हुए दिव्य-शक्ति-विशिष्ट नेत्रोंके लिये तो ये नित्य सत्य हैं। वृन्दाटवी सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य एवं पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द-अनुभावोंसे परिपूर्ण हो गयी है, अरण्यका अणु-अणु अपनेमें न समाते हुए आनन्दको विभिन्न अनुभावोंसे व्यक्त कर रहा है—

यद्गानं विपिनस्य कोकिलकले नृत्यं लताविभ्रमे
रोम्णामुत्थितमङ्कुरे च कवितं योग्यान्निदानादृते।
तस्मिंश्चा यदि कृष्णसंगतिवशात्तस्मिंस्तथा वर्ण्यते
सत्यं तर्हि सदापि तत्तदखिलं यस्माद्दरीदृश्यते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र कभी तो दौड़ते हैं और कभी किसी अतिशय प्रिय, स्निग्ध वयस्क गोपबालकके कंधेपर चढ़ जाते हैं। गोपशिशुओंका उत्साह भी बढ़ता ही जा रहा है। वे श्रीकृष्णचन्द्रको नव-नव निकुञ्जस्थलीकी ओर, लता-पल्लव-जालसे आवृत सुरम्य वनस्थलीकी ओर संकेत करके ले जाते हैं एवं वहाँकी शोभा निहारकर प्रफुल्लित होते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने सखाओंको एक-से-एक सुन्दर स्थानोंका दर्शन करा रहे हैं—इस प्रकार, मानो वे यहाँसे, यहाँके अणु-अणुसे चिरपरिचित हों। दल-दलके मृग एवं मयूर अपनी भङ्गिमासे शुभ शकुनकी सूचना देते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख आते हैं, ललकभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखते रहते हैं, फिर चौकड़ी भरते, नृत्य करते सघन वनकी ओटमें छिप जाते हैं। उन्हींका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी इस कुञ्जसे उस कुञ्जमें, कभी तटसे वनकी ओर एवं कभी वनसे कालिन्दीकूलकी ओर अनवरत विचरण कर रहे हैं। यदि व्रजेश्वरीकी भेजी हुई परिचारिकाएँ उन्हें बुलाने न आ जातीं तो पता नहीं, श्रीकृष्णचन्द्र आज ही समस्त वनका निरीक्षण कर लेते। परिचारिकाओंके अनुरोधसे बाध्य होकर, उनकी मनुहारसे द्रवित होकर वे जननीके समीप चल तो पड़ते हैं, पर दृष्टि बार-बार जा रही है गिरिराज गोवर्द्धनके चरणप्रान्तमें जानेवाले तरु-लतामण्डित सुरम्य पथकी ओर ही। यदि किञ्चिन्मात्र भी और विलम्ब करके ये दासियाँ पहुँचतीं तो श्रीकृष्णचन्द्रको वहाँ कदापि नहीं पातीं। मृगशावककी भाँति दौड़कर एक बार तो वे आज ही उस परम सुन्दर अतिशय आकर्षक भूधरको अत्यन्त निकटसे देख ही लेते।

इधर नाविकोंको मुँहमाँगे पारितोषिक देकर, उससे भी बहुत अधिक देकर व्रजेश्वर उन्हें विदा करते हैं और पुनः तूर्यनाद करनेकी आज्ञा देते हैं। 'नवीन व्रजपुर इसी वृन्दावनमें, यहीं इस वनखण्डमें बसने जा रहा है'—वह गगनभेदी तूर्यनाद इसीकी सूचना कर रहा है। आवास-प्रबन्धक सचेष्ट हो जाते हैं। गोप-पुरन्ध्रियाँ रथोंसे उतर पड़ती हैं। व्रजेश्वर एवं उपनन्दके मनमें नवीन व्रजपुरका मानचित्र पहलेसे ही प्रस्तुत है। वे प्रबन्धकोंको आदेश दे चुके हैं। उसके अनुसार ही वे सब गोप-परिवारोंको स्थानका निर्देश करते जा रहे हैं तथा गोपगण शकटोंसे ही अपने-अपने आवासका निर्माण करनेमें संलग्न हो जाते हैं। सदा सब कालमें परम सुखदायक इस वृन्दावनकी भूमिपर अर्धचन्द्राकारमें नवीन व्रजपुरकी रचना आरम्भ हो जाती है—

वृन्दावनं समाविश्य सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३५)

इहि बिधि श्रीवृंदाबन आइ।
निरखि अधिक आनंदहि पाइ॥

सकट कौ बान बनायौ ऐसौ।
सुंदर अर्धचंद होइ जैसौ॥

'शकटावर्त' नामक स्थानतक इस अर्धचन्द्राकृति पुरीकी रचना होती चली गयी। आठ कोस लंबी एवं चार कोस चौड़ी भूमिको यह नवीन व्रजपुर देखते-देखते ही घेर लेता है—

शकटावर्तपर्यन्तं चन्द्रार्धाकारसंस्थितम्।
मध्ये योजनविस्तीर्णं तावद् द्विगुणमायतम्॥

(हरि० विष्णु० ९। २१)

अवश्य ही व्रजपुरकी आठ कोसकी यह दीर्घता एवं मध्यमें चार कोसकी विस्तीर्णता—यह मान, यह परिमिति लोकदृष्टिसे ही प्रतीत हो रही है। वास्तवमें तो यह अनन्त है, अचिन्त्यशक्तिसमन्वित है, इसकी कोई सीमा नहीं। चिदानन्दमय परब्रह्मकी, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रकी यह पुरी है। उनके समान ही यह विभु है—

अष्टक्रोशीमायतं गोष्ठमेतन्मध्ये
तस्मिन् विस्तृतं चार्धमस्याः।
एतन्मानं क्वात्र लोकस्य
दृष्ट्या शक्त्यानन्त्याचिन्त्यधामत्वमेव॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

इसके ठीक मध्यमें व्रजेन्द्रका आवास निर्मित होता है। उनके पार्श्वदेशमें उपनन्द आदि भ्राताओंका। उनके आगे अन्य गोपोंकी शकटरचित गृहावली सुशोभित होने लगती है—

मध्ये राज्ञः सदम
तत्पार्श्वतस्तद्भ्रातृणां तद्वाह्यतस्तत्परेषाम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

सबके परामर्शसे अन्य स्थायी व्यवस्थाएँ कल होंगी, आज तो जैसे-तैसे विश्राम कर लेना है—यह सूचना सबको मिल जाती है। फिर तो गोपगण निश्चिन्त-से होकर वनकी ओर चल पड़ते हैं। व्रजसुन्दरियाँ भी कलशोंमें जल भरने यमुना-तटपर चली जाती हैं। तटकी एवं वनपथकी शोभा निहारने लगती हैं, निहारकर विथकित रह जाती हैं। दल-की-दल, आनन्दविह्वल हुई, तरुशाखाओंको हाथसे खींचकर उनपर झूलने लग जाती हैं—

तोयमुत्तारयन्तीभिः प्रेक्षन्तीभिश्च तद्वनम्।
शाखाश्चाकर्षमाणाभिर्गोपीभिश्च समन्ततः॥

(हरि० विष्णु० ९। २८)

जननीसे संलालित होकर श्रीकृष्णचन्द्र भी दाऊ भैयाके साथ सखाओंके सहित पुनः वनकी शोभा देखने निकल पड़े हैं। जिधर उनकी सलोनी दृष्टि जाती है, जिस ओर वे चरणनिक्षेप करते हैं, उधर ही प्रतीत होता है, मानो सौन्दर्य-अधिष्ठात्रीके कोशमें जितनी शोभा संचित है, सब-की-सब बिखेर दी गयी है। वन, गोवर्द्धन, यमुनापुलिन—सब ओरसे जैसे सौन्दर्य-स्रोतस्विनी उमड़ी आ रही हो। उसमें अवगाहन कर सौन्दर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्र एवं शोभाधाम श्रीबलराम आज आनन्द-मुग्ध हो रहे हैं—

बन बृंदाबन, गोधन, गिरिबर, जमुना-पुलिन, मनोहर तरुबर।
रस के पुंज, कुंज भव गहबर, अमृत-समान भरे जल सरबर॥
जदपि अलौकिक सुख के धाम, श्रीबलराम, कुँवर घनस्याम।
रीझे तदपि देखि छबि बन की, उत्तम प्रीति लागि गइ मन की॥
और सुक-सारिका, पिक-मोर, और अंबुज, और भौंर।
रतन-सिखरगिरि गोधन-सोभा, निकसी मनहुँ गई छबि गोभा॥
तिन बिच सुंदर रासस्थली, मनि-कंचनमय लागत भली।
गिरि तें झरत जु निर्झर सोहै, निर्जर-नगर अमृत-रस को है॥

रात्रिमें समस्त व्रजवासियोंके निद्रामग्न हो जानेपर अमरशिल्पी विश्वकर्माका तीन कोटि शिल्पविशेषज्ञों तथा अगणित यक्ष-समूहोंके साथ वृन्दावनमें पदार्पण तथा रात्रि शेष होनेसे पूर्व वहाँकी चिन्मय भूमिपर नवीन व्रजेन्द्र-नगरी, वृषभानुपुर तथा रासस्थली आदिका आविर्भाव; पुरीकी अप्रतिम शोभा तथा दिव्यताका वर्णन

शुभ्रज्योत्स्नाका परिधान धारण किये निशासुन्दरीने वृन्दावन-भूमिमें पदार्पण किया। आते ही उसने अपने अन्तस्तलकी नीरवता* बृहद्वनसे आये हुए समस्त व्रजवासियोंपर बिखेर दी। क्रमशः सभी गोप अलसाङ्ग होकर निद्राकी सुखमयी गोदमें ढुलक पड़े। प्रथम प्रहरमें कभी तन्द्रित न होनेवाले व्रजेश्वरको भी आज निद्रा आ गयी। व्रजराजमहिषी भी सो गयीं। मातृवक्षःस्थलको अलंकृत करते हुए, निद्राके अधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र भी सुनिद्रित हो गये। सुरम्य शय्यापर पौढ़ी वृद्धा व्रजगोपिकाओंको भी नींद आ गयी। पतिव्रता, पतिपरायणा, पतिसुखसुखिनी युवती गोप-सुन्दरियाँ भी सेवासुखकी भावनामें ही डूबी रहकर शयनपर्यङ्कपर निद्रामें निमग्न हो गयीं। शिशुको क्रोडमें धारणकर माताएँ निद्रित हो गयीं। सखीको भुजपाशमें बाँधे गोपकुमारिकाओंके नेत्र भी निद्रासे निमीलित हो गये। कोई शिबिरके अन्तर्देशमें तो कोई बाहर उन्मुक्त आकाशके वितानमें, कोई शकटपर तो कोई रथपर—जिस गोपसुन्दरीकी जहाँ इच्छा हुई, वहीं पौढ़कर वह निद्रासुखका अनुभव करने लग गयी। काननमें सर्वत्र राशि-राशि प्रस्फुटित कुसुमोंके सौरभसे सुरभित हुई, शीतल मन्द बयार, नन्दनकाननकी शोभाको भी तुच्छ, अकिंचित्कर कर देनेवाली आजके राकाचन्द्रकी मनोहर चन्द्रिका गोपोंके, गोपसुन्दरियोंके श्रीअङ्गोंका स्पर्शकर उनके निद्रासुखको और भी गंभीर बनाने लगी। इस प्रकार जब सभी निस्पन्द, निश्चेष्ट हो गये एवं रात्रि पाँच घड़ी व्यतीत हो चुकी, ठीक उस समय देवशिल्पी, समस्त शिल्पाचार्योंके परम आचार्य विश्वकर्मा श्रीवृन्दावनमें पधारे—

सुप्तेषु व्रजनन्देषु नक्तं वृन्दावने वने।
सुनिद्रिते च निद्रेशे मातृवक्षःस्थलस्थिते॥
निद्रितासु च गोपीषु रम्यतल्पस्थितासु च।
यूनां च सुखसंयोगानुषक्तमानसासु च॥
कासुचिच्छिशुयुक्तासु सखीयुक्तासु कासुचित्।
कासुचच्छकटस्थासु स्यन्दनस्थासु कासुचित्॥
पूर्णेन्दुकौमुदीयुक्ते स्वर्गादपि मनोहरे।
नानाप्रकारकुसुमवायुना सुरभीकृते॥
सर्वप्राणिनि निश्चेष्टे मुहूर्ते पञ्चमे गते।
तत्र जगाम भगवाञ्छिल्पिनां च गुरोर्गुरुः॥

(श्रीब्रह्मवैवर्तपुराण)

दिव्य सूक्ष्म वस्त्र धारण किये, मनोहर रत्नमाल्य, मकरकुण्डल एवं विविध रत्नाभरणोंसे विभूषित, कामदेवके समान सुन्दर देवशिल्पीको आते किसी भी व्रजवासीने नहीं देखा। वे अकेले आये, यह बात भी नहीं, तीन कोटि शिल्पविशेषज्ञोंके साथ आये हैं—

विशिष्टशिल्पनिपुणैः सार्द्धं शिल्पित्रिकोटिभिः।

(ब्र० वै० पु०)

इनके पश्चात् अगणित असंख्य यक्षोंके समुदाय आये। वे अपने हाथोंमें पद्मराग, इन्द्रनील, स्यमन्तक,

चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, प्रभाकर—इन भाँति-भाँतिके मणिसमूहोंको भर लाये हैं—

पद्मरागकराः केचिदिन्द्रनीलकरा वराः।
केचित्स्यमन्तककराश्चन्द्रकान्तकरास्तथा ॥
सूर्यकान्तकराश्चान्ये प्रभाकरकरा वराः।

समस्त कानन इन देवोंसे पूर्ण हो गया है। काननका कण-कण इन दिव्य मणियोंकी ज्योतिसे उद्भासित हो उठा है। फिर भी एक भी व्रजवासीकी निद्रा नहीं टूटी, एक प्रहरी भी नहीं जग पाया। जगे कैसे? व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटनघटनापटीयसी योगमायाशक्ति इस समय एक अभिनव योजनामें जो लगी है। योगमायाने ही तो सबको सुला रखा है। फिर किसकी सामर्थ्य है जो इस आवरणको चीरकर क्षणभरके लिये भी झाँक ले। जब योजना पूर्ण हो जायगी, तभी सबकी आँखें एक साथ खुल जायँगी। इससे पूर्व कोई भी जग नहीं सकेगा। व्रजराजके लिये इस वृन्दावनमें दिव्य नगरका निर्माण होगा, राजप्रासाद निर्मित होगा, प्रत्येक पुरवासीके लिये भवन निर्मित होंगे, सबके लिये यथायोग्य गोष्ठ बनेंगे, राजपथ एवं वीथियोंकी रचना होगी, व्रजेन्द्रकी अनन्तवैभवमयी वृन्दावनकी यह राजधानी चमक उठेगी, सो भी ब्राह्ममुहूर्त आनेसे पूर्व। इसीके लिये देवशिल्पी विश्वकर्मा आये हैं। वे ही व्रजेन्द्रपुरीका निर्माण करेंगे। पुरनिर्माणकी सामग्री लेकर ये असंख्य कुबेर-अनुचर आये हैं तथा निर्माणकार्यमें विश्वकर्माके आज्ञानुसार यथायोग्य उन्हें सहायता देनेके लिये इन साढ़े तीन करोड़ शिल्पविशेषज्ञोंका आगमन हुआ है। सात घड़ीमें व्रजराजके नगरको, नवीन व्रजपुरको, व्रजपुरके अनन्त अपरिसीम वैभवको मूर्त करके ये चले जायँगे। इसके अनन्तर सबकी निद्रा टूटेगी और आनन्दविह्वल होकर सभी अपने-अपने आवासमें प्रवेश करेंगे। अस्तु—

श्रीकृष्णपादपद्मोंका स्मरण कर उनकी अशेष-शुभविधायिनी दृष्टिपर अपनी वृत्तियोंको केन्द्रितकर अमरशिल्पीने पुरकी रचना प्रारम्भ की—

नगरं कर्तुमारेभे ध्यात्वा कृष्णं शुभेक्षणम्।
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

विश्वकर्माने अपने कलाकौशलकी इति कर दी। लायी हुई अपार सामग्रियोंसे उन्होंने असंख्य चतुःशाला, कपाट, स्तम्भ, सोपान, कलश, वेदी, प्राङ्गण, प्राकार, द्वार आदिका निर्माण किया। देखते-ही-देखते समस्त गोपोंके आवास बन गये एवं नवीन व्रजेन्द्रपुरी जगमग-जगमग करने लगी। किंतु पुरी सचमुच कैसी बनी, इसका मूर्तरूप कैसा हुआ, इस बातको स्वयं देवशिल्पीने ही जाना या नहीं—यह कहना कठिन है; क्योंकि वास्तवमें यह तो अचिन्त्यमहिमामयी योगमायाका एक खेल है, जो विश्वकर्मापर पुररचनाका भार सौंपा गया। आधिदैविक जगत्की मर्यादाको अक्षुण्ण बने रहने देनेके लिये, दैवी कलाको आदर देनेके लिये, किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश देवशिल्पीको, उन असंख्य शिल्पज्ञोंको, कुबेरकिंकरोंको स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके चिदानन्दमय धामका परम दुर्लभ स्पर्शसुख दान करनेके लिये योगमायाने इतना आडम्बर किया है। वास्तवमें व्रजपुरका, व्रजेन्द्रपुरीका निर्माण नहीं होता। यह तो सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी सदंशमें रहनेवाली संधिनी शक्तिकी नित्य परिणति है। श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही यह भी विभु है, नित्य चिन्मय है। अभी-अभी जहाँ—विश्वप्रपञ्चके जिस भूभागपर, वृन्दाकाननमें व्रजेन्द्रपुरी मूर्त हुई है, वहाँ वह पुरी पहलेसे ही, अनादिकालसे है एवं अनन्तकालतक रहेगी। प्रपञ्चमें जिस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी चिदानन्दमयी लीलाका प्रकाश होता है तथा क्रमशः लीलाका प्रकाश करते हुए जब वे वृन्दाकाननका—अपने द्वितीय रङ्गमञ्चका स्पर्श करते हैं, तब तिरोहित हुई व्रजेन्द्रपुरी भी पुनः आविर्भूत हो जाती है; और जब लीलाका अन्तर्धान हो जाता है, तब पुरी भी अन्तर्हित हो जाती है। यह आविर्भाव-तिरोभाव भी उनके लिये है जिनके नेत्रोंमें त्रिगुणका तेज भरा है। जिनकी आँखोंमें श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रकी चन्द्रिका भरी